द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

'20 वीं सदी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों की ग्रामांचलिक विकास यात्रा'

प्रस्तावना :–

20 वीं सदी में हिंदी साहित्य के औपन्यासिक जगत में काफी प्रगति हो चुकी है। विगत पाँच दशकों में हिंदी साहित्य के अंतर्गत 'आँचलिक उपन्यास' विधा का विकास उल्लेखनीय एवं प्रशंसनीय है। उपन्यास विधा के उद्‌भव एवं विकास के साथ–साथ 'आँचलिक उपन्यास' विधा भी अपनी अलग पहचान बनाने में गतिमान रही। स्वतंत्रता पूर्व काल से लेकर आज तक 'आँचलिक उपन्यास' भारत की सांस्कृतिक एवं सामाजिक धरोहर को स्पष्ट करने में सफल सिद्‌ध हुए हैं।

स्वतंत्रता पूर्व काल के उपन्यास साहित्य में 'आँचलिकता' के कुछ तत्त्व जरूर दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु विशुद्‌ध 'आँचलिकता' की कसौटी पर यह साहित्य खरा नहीं उतरता। 'आँचलिक उपन्यास' स्वातंत्र्योत्तर युग की देन है। हिंदी साहित्य में इसका प्रचलन फणीश्वरनाथ 'रेणु के 'मैला आँचल'(1954), से माना जाता है। 'आँचलिक उपन्यास' विधा ने हिंदी साहित्य–विश्व को एक नया मानदण्ड दिया। इस विधा के कारण उन तमाम उपेक्षित अँचलों का स्वर गूँज उठा जो बरसों से विलुप्त था।

'आँचलिक उपन्यास' का 'आँचलिक' शब्द 'अँचल' से बना है, जिसका अर्थ है – 'साडी या ओढणी का वह भाग जो सिर अथवा कंधे पर से होता हुआ सामने छाती पर फैला हुआ हो। साडी का छोर। आँचल। पल्ला। अंचरा। दूसरे अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं – किनारा, तट, तलहटी, घाटी, किसी प्रदेश या स्थान आदि का भाग (वन,गुहा)'।"[1]अर्थात् 'आँचलिक उपन्यास' में यहाँ दूसरा अर्थ अभिप्रेत है, जिसमें किसी गाँव के स्थान, क्षेत्र भू–प्रदेश आँचल का वर्णन किया गया हो।

प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत उपन्यास साहित्य की उस विकास यात्रा को जानने का लघु प्रयास किया है, जो ग्रामाँचल से जुडी है। ग्रामाँचल का सीधा अर्थ है, ग्रामीण परिवेश, ग्राम–जीवन से जुडा आँचल। 'ग्रामाँचलिकता' की परिभाषा को स्पष्ट करते

हुए सुभाषिनी वर्मा लिखती है –"जब उपन्यासकार किसी अँचल , गाँव–कस्बे या मोहल्ले को परिवेश बनाता है, वहाँ के लोगों के आचार, व्यवहार, जीवन पद्धति, संस्कृति, लोकभाषा, धर्म एवं दृष्टिकोण का सूक्ष्मवर्णन करता है, तो वह आँचलिक उपन्यास होता है।"[2]

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद प्रजातंत्र व्यवस्था का निर्माण, औद्योगिक क्रांति, हरित (कृषि) क्रांति, शिक्षा के सुनियोजित अभियान आदि के प्रभाव के चलते ग्रामीण परिवेश में आये परिर्तन, बदलाव तथा उसकी विकास यात्रा को जानना प्रस्तुत अध्याय का मूल उद्देश्य रहा है। डॉ. यादवराव धुमाळ जी के मतानुसार –"हिंदी के आँचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर प्रजातंत्रीय प्रभावों का परिणाम है। इसमें एक सीमित क्षेत्र की धडकनों का आत्मीयता के साथ चित्रण किया जाता है। इसमें किसी विशिष्ट क्षेत्र या जाति को उसके संपूर्ण वैशिष्ट्यों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिवेश से प्रभावित या स्पंदित लोक–जीवन की सघन प्रस्तुति के लिए आँचलिक उपन्यास प्रतिबद्ध होता है। इसमें अँचल पात्र के रूप में अपनी भूमिका आदा करता है। स्थानीय बोली या भाषा के माध्यम से नवीन शिल्प संवेदन की निर्मिति की जाती है।"[3] आजादी के बाद ग्रामीण लोक–जीवन की सही तस्वीर खिंचने का काम आँचलिक उपन्यासों ने किया है। अतः द्वितीय अध्याय के अंतर्गत स्वतंत्रतापूर्व काल से लेकर 20 वीं सदी के अंतिम दशक तक के ग्रामांचल से जुड़े उपन्यास–साहित्य तथा ग्राम–जीवन की विकास यात्रा को जानने का प्रयास किया गया है।

2.1 स्वतंत्रतापूर्व ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य :–

'आँचलिक उपन्यास–साहित्य' स्वातंत्र्योत्तर युग की देन है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल'(1954),से इसका प्रचलन माना गया है, लेकिन इस 'आँचलिकता' के बीज स्वतंत्रतापूर्व काल के कुछ उपन्यासों में भी विद्यमान थे जिसका विकसित रूप हम स्वातंत्र्योत्तर युग में देखते हैं। हिंदी साहित्य विश्व में 'आँचलिकता' की प्रवृत्ति पाश्चात्य उपन्यासों से प्रभावित है किंतु यह आयात नहीं है। 'आँचलिकता' की प्रवृत्ति के उद्भव और विकास के पीछे प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, निराला, नागार्जुन आदि रचनाकारों के उपन्यासों का विशेष योगदान रहा। डॉ. यादवराव धुमाळ के मतानुसार "प्रेमचंद ने 1918–1936 ग्रामीण जीवन का गहराई से चित्रण किया। आँचलिक उपन्यास की निर्मिति के मूल में प्रेमचंद का स्थान महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचंद के 'रंगभूमि' और

'गोदान' में कुछ अंशों में आँचलिकता आई है। उनके 'वरदान' में ग्राम जीवन और समाज का चित्रण है। 'प्रेमाश्रय' में पीड़ित ग्रामीणों की चेतना उभर उठी है। जयशंकर प्रसाद के 'तितली' में ग्रामीण जीवन की प्रवृत्तियों की तरफ इशारा किया है।"[4] ये सभी साहित्यिक 'आँचलिकता' की पृष्ठभूमि निर्माण करने के लिए प्रमुख सहायक रहे हैं।

यहाँ स्वतंत्रतापूर्व काल से लेकर सन् 1959 तक के उस उपन्यास साहित्य को जानने का प्रयास किया है जिनकी पृष्ठभूमि नितांत ग्रामांचलिक है। स्वतंत्रता–पूर्व युग या रेणु–पूर्व युग में भुवनेश्वर मिश्र का 'बलवंत भूमिहार' (1901), मन्नत द्विवेदी का 'रामलाल' (1914), शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' (1925), प्रेमचंद का 'गोदान' (1936), सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का 'बिल्लेसुर बकरिहा' (1941), नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची' (1944), वृंदावनलाल वर्मा का 'कचनार' (1947) आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं, जो आँचलिकता का आभास मात्र हैं। 'आँचलिकता' के उद्भव और विकास को लेकर विद्वानों में एक मत नहीं है। स्वतंत्रतापूर्व काल के उपन्यास 'आँचलिकता' के तत्त्वों के निर्वाह में पूर्ण रूप से सक्षम नहीं है।

फणीश्वरनाथ रेणु जी के 'मैला आँचल' (1954) से ही आँचलिकता का विशुद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है। डॉ. यादवराव धुमाळ के मतानुसार "हिंदी उपन्यास साहित्य में आँचलिकता के उन्नायक कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' में युगांतकारी परिवर्तनों का सीधा साक्षात्कार है। उनका पहला आँचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' (1954), हिंदी उपन्यास साहित्य का पहला आँचलिक उपन्यास माना जाता है। 'मैला आँचल' के बाद हिंदी उपन्यासों में आँचलिकता अधिकाधिक मात्रा में पनपने लगी।"[5]परिणाम स्वरूप अनेक प्रतिभावान लेखकों ने 'आँचलिक उपन्यास' साहित्य में प्रशंसनीय योगदान दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विद्यानाथ मिश्र 'नागार्जुन' के 'बलचनमा' (1952) और 'दुःख मोचन' (1956) फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' (1954) और 'परती परिकथा' (1957), भैरवप्रसाद गुप्त के 'गंगामैया' .(1953) और 'सती मैया का चौरा' (1959), रांगेय राघव का 'कबतक पुकारूँ' (1956) आदि उल्लेखनीय ग्रामांचलिक उपन्यास लिखे गए।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ने लोक जागरण का बिगुल बजाया, परिणाम स्वरूप बरसों की गुलामी से मुक्त होने के लिए की देश की जनता में चेतना उत्पन्न हुई। महात्मा गांधी के 'देहातों की ओर चलो' के नारे और 'सर्वोदय आंदोलन' ने संपूर्ण भारत के चित्र को परिवर्तित कर डाला। स्वतंत्रता संग्राम से प्रभावित

साहित्यकारों ने पिछडे देहाती जीवन तथा उनकी जीवन व्यथा को पहली बार साहित्य में वाणी देने का कार्य किया। 'आँचलिक उपन्यास' विधा आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित हुई जिसने ग्रामांचल का यथार्थ रूप सबके सामने प्रस्तुत किया। प्रेमचंद की दृष्टि का रेणुद्वारा अविष्कार हुआ। 'रेणु युग' से ही 'आँचलिकता' की प्रवृत्ति सच्चे अर्थों में निखर उठती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण विकास के लिए अनेक योजनाओं का शुभारंभ हुआ। पूँजीवादी समाज–व्यवस्था की जड़ें उखड रही थी और उसका स्थान प्रजातंत्र व्यवस्था ने लिया था। भारतीय संविधान का निर्माण, ग्रामीण भारत का विकास, शिक्षा अभियान का प्रसार, विभिन्न विकास योजनाएँ, औद्योगिक एवं हरित क्रांति, सडक–निर्माण, चिकित्सालय केंद्र, नारी सबलीकरण, गरीबी निर्मूलन आदि नारों से भारत गूँज उठा। विशेष रूप में ग्रामीण जनता ने स्वर्णिम भविष्य के सपने संजोये थे लेकिन आजादी के बाद ग्रामीण जनता को मोहभंग की स्थिति का सामना करना पडा।

आजादी को प्राप्त कर के क्या हासिल हुआ ? के सवाल से ग्रामांचल उद्वेलित हो उठे। आजादी प्रजातंत्रीय व्यवस्था में चंद पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना बनकर रह गयी। समताधिष्ठित समाज निर्माण को तिलांजलि देकर विषम आर्थिक नीति के द्वारा अमीर–गरीब के बीच की खाईयों को बढाया गया। काँग्रेसी शासन की असफलता ने लोगों को निराश करने का कार्य किया। एक ओर गरीबी, लाचारी, भूखमरी से तडपते किसान–मजदूर तो दूसरी ओर ऐश्वर्य के गज पर सवार पूँजीवादी जमींदार, भ्रष्ट राजनेता ग्रामांचलिक–लोकजीवन का दमन करने में लगे हुए थे।

नारी शोषण, किसान–मजदूर शोषण, वर्ग–संघर्ष, भ्रष्ट राजनीति आदि से तंग आकर इन सबके विरोध में जागी निम्न वर्ग की चेतना, और परिवर्तन के लिए छटपटाते गाँव आदि का प्रतिबिम्ब स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यासों में दिखाई देता है।

2.1.1 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में नारी शोषण तथा नारी–चेतना :–

मन्युष्य द्वारा मन्युष्य का शोषण प्राचीन काल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप में विद्मान रहते आया है। स्वतंत्रता पूर्व काल से अँग्रेजों और देसी जमीदारों से चलता आया यह शोषण आजादी के बाद देसी पूँजीपति, जमींदारों

से बरकरार रहता है। 'शोषण' के चपेट में प्रमुखता से नारी आती रही है। सदियों से नारी शोषण के केंद्र में रही है। मनु संस्कृति से लेकर आज भू–मंडलीकरण के युग तक शोषण उसके जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। इस संदर्भ में अरविंद जैन लिखते हैं –"सामंती व्यवस्था में नारी एक वस्तु है, संपत्ति है, संभोग और संतान की इच्छा पूरी करनेवाली मादा है।"[6]नारी के इस शोषण की गूँज विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में सुनाई देती है।

नागार्जुन के 'बलचनमा'(1952), उपन्यास में नारी की विवशता का फायदा उठाते हुए जमींदार दुअन्नी–अठन्नी के लिए बलचनमा के बहन के इज्जत को भ्रष्ट करता है। तो कभी फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' (1954)उपन्यास में नारी को महंत सेवादास और उनके वासनांध सेवक वासनापूर्ति के काम में लाते हैं। कभी भैरवप्रसाद गुप्त के 'सती मैया का चौरा' (1959) उपन्यास की भाभी का विधवा जीवन उसके लिए अभिशाप बनता है और नारी दर–दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर हो जाती है। कभी वह रांगेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ'(1956), की नचनियों की तरह परिस्थिति के कुचक्र में फँसकर सामंत तथा पुलिस–दरोगा की भोग्या बनती हैं।

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में नारी की इन कमजोरियों के बावजूद उसमें एक चिंगारी है जो इस पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था को आवाहन देती है। इस शोषण के खिलाफ वह आवाज उठाने से नहीं डरती। नारी इस सामंतवादी व्यवस्था, सामाजिक विषमता, परंपरावादिता एवं रूढ़िवादिता के खिलाफ विद्रोह पुकारती है। रांगेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' (1959),में चंदा, कजरी इस सामंतवादी मनोवृत्ति के खिलाफ आवाज उठाती है। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' (1959), में भाभी देवर के साथ पुनर्विवाह करके रूढ़ि–परंपराओं के अमानवीय बंधनों को तोडकर नई जिंदगी की शुरूवात करती है।

अतः विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में नारी शोषण के क्षेत्र में आगे की कतार में खडी है। वह अन्याय–अत्याचार सहने के लिए अभिशप्त है, लेकिन विद्रोह करके दमनकारी व्यवस्था को मुँहतोड जवाब देने के लिए भी प्रस्तुत है।

2.1.2 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में किसानों–मजदूरों का शोषण तथा वर्ग चेतना :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में शोषण के अन्य शिकार है–किसान और मजदूर वर्ग। प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान'(1936), का 'होरी' नाम में परिवर्तन कर के आता है और जमींदारों के शोषण का बोझ ढोते रहता है। स्वतंत्रता पूर्व काल में काँग्रेसी नेताओं ने 'किसान राज' का सपना दिखाया लेकिन वही किसान आजादी के बाद पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण से दब जाता है। अशिक्षा और निर्धनता ने किसानों को लाचार और बेबस बना दिया। आजादी के बाद काँग्रेसी नेताओं ने 'किसान शोषण' की योजनाओं का ही क्रियान्वयन किया। स्वतंत्रतापूर्व ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में प्रेमचंद ने कृषक वर्ग का अपने साहित्य में यथार्थवादी चित्रण किया है। इस संदर्भ में डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर लिखते है – "कृषक–वर्ग का जीवन मृत्यु–रूपी सहस्त्र-फन वासुकि के साथ संघर्ष करनेवाले वर्ग का जीवन है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में किसान को निगलवाले इन सहस्त्रों मुखों का प्रभुविष्णु चित्र खींचा है।"[7]

विवेच्य काल में किसान के अमानवीय शोषण का चित्रांकन हुआ है। नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' (1952), में बलचनमा के पिता को मालिक बाग से किसुन भोग चुराने पर खमेली से बाँध कर जानवरों से भी बदतर पीटता है , जिसके कारण उसकी मौत होती है। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया' (1953), का किसान मटरू जमीन और पानी के लिए आजीवन संघर्ष करता है। वह खून–पसीना एक करके परती जमीन को उपजाऊ बनाता है, परंतु जमींदार की लालची दृष्टि उसकी जमीन हडपने में लगी है।

किसानों के बद से बदतर शोषण के साथ ही मजदूर वर्ग भी जमींदारों के नारकीय अत्याचार सहने के लिए अभिशप्त है। अशिक्षा और निर्धनता की वजह से मजदूर अपने हक से अंजान है। जमींदारों के घरों से लेकर उनके खेतों, मिलों, कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का अमानवीय शोषण किया जात है। नागार्जुन के 'बलचनमा' (1952), उपन्यास में दुअन्नी–अठन्नी के लिए घर का मालिक नौकरानी पर अत्याचार करता है। तो फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आँचल' (1954), में कर्जे के बोझ में दबे मजदूर मालिक के इच्छानुसार अलग–अलग टीले पर काम करने के लिए मजबूर है।

किसान और मजदूर पूँजीपतियों के द्वारा किये शोषण को सहने के लिए अभिशप्त है लेकिन कहीं–कहीं पर इस अमानवीय शोषण के खिलाफ विद्रोह की

प्रतिक्रिया देने से भी किसान–मजदूर वर्ग पीछे नहीं रहते। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना का रूप भी उभरकर सामने आया है। किसान–मजदूर वर्ग धीरे–धीरे अपने अधिकारों से परिचित होकर शोषण के खिलाफ आवाज उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा'(1952), का नायक बनचनमा और 'दु:खमोचन'(1956),उपन्यास का दु:खमोचन शोषित किसान–मजदूरों में जागृति एवं पुनर्निर्माण में सहयोग देते हैं। किसान और मजदूर संगठित होकर अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए लड रहे हैं। अन्याय से, छलपूर्वक, जबरदस्ती से लगान लेनेवाले जमींदारों के खिलाफ बनचनमा किसानों को संगठित करता है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आँचल' (1954), में भी हलवाहें, चरवाहें, मजदूर, भूमिहीन संगठित होकर अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगामैया' (1953), का किसान मटरू भी इसी संगठन तथा वर्ग चेतना से ऊर्जा पाता है और वह गंगा के किनारे की जमीन पर कब्जा प्राप्त कर लेता है।

विवेच्य काल का ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य किसान–मजदूरों के शोषण, उनके वर्ग–संघर्ष और वर्ग–चेतना का दस्तावेज है। डॉ. सुरेंद्रकुमार यादव 'बलचनमा' उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखते हैं – "बलचनमा' उपन्यास में उस समाज का चित्रण मिलता है जिसमें सामंतशाही, जमींदार वर्ग उस कर्मठ, जुझारू और संघर्षी वर्ग का खून चूस रहा है, जो अपनी मेहनत व सेवा से इस वर्ग को खुशहाल बनाता है।"[8] अत: स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर ग्रामांचलिक उपन्यासों में किसान–मजदूर पूँजीवादी व्यवस्था के जाल में फँसकर उस जाल से मुक्ति पाने के लिए छटपटाते रहते हैं।

2.1.3 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास – साहित्य में राजनीतिक व्यवस्था :–

स्वतंत्रता पूर्व काल और स्वातंत्र्योत्तर काल के ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य में 'राजनीति' व्यंग्य का विषय रह चुकी है। आजादी के बाद ग्राम-जीवन में राजनीति अभिन्न अंग बन गई। इस संदर्भ में डॉ. विमल शंकर नागर लिखते हैं –"विगत ढ़ाई दशक में भारतीय अँचलों में राजनीति परिवर्तन की सर्वाधिक संचालिका शक्ति रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में योगदान प्रदान करने के लिए प्राप्त वयस्क मताधिकार के कारण राजनीति

प्रत्येक अँचल के प्रत्येक घर में प्रविष्ट हो गयी है।"[9] किंतु मताधिकार के बावजुद लोग अन्यायकारी राज–व्यवस्था के शिकार हुए। स्वतंत्रता पूर्व अँग्रेजों के दमनकारी तानाशाही ने आजादी के बाद 'प्रजातंत्र' का नकाब ओढकर देसी अँग्रेजों द्वारा दमनकारी राज–व्यवस्था का सिलसिला शुरू रखा। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में राजनीति के दमनकारी घिनौने रूप को देखा जा सकता है। 'राजनीति' के संबंध में नागार्जुन कहते हैं – "जात–पाँत का टँटा, खानदानी घमंड, दौलत की धौंस, अशिक्षा का अंधकार लाठी की अकड, नफरत का नशा, रूढ़ि और परम्परा का बोझ।"[10] आदि के कारण "आज की राजनीति में अनेक खाईयाँ टिले हैं, बालू है, दलदल है, दरारें हैं, जहरीली घास है कंटीले झाड, झंखाड है।"[11] राजनीतिक गुटबाजी, दलीय प्रतिबद्धता, आर्थिक शोषण से सामाजिक विषमता में बढौत्री हुई। राजनीति की अवसरवादिता, दिखावापन और जातीयता ने ग्रामांचलों में सांप्रदायिकता का जहर फैलाया।

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में राजनीति का घिनौना रूप सामने आता है। नागार्जुन के 'बलचनमा' उपन्यास (1952), में काँग्रेसी शासन की शोषण–योजना बनानेवाले और प्राकृतिक आपत्ति में फँसे लोगों को मिली मदद की रकम को हडपनेवाले राजनेता है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आँचल' (1954), में बालदेव सत्ता हथियाने के लिए गांधीजी का अंध भक्त बनता है तो दुलारचंद कापरा स्मगलिंग से धन कमाता है। 'रेणु' के ही उपन्यास 'परती परिकथा' (1957), में राम निहोरादास सोशालिस्ट पार्टी की पुरानी रसीद का प्रयोग करके चंदा वसूल करता है। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' (1956), उपन्यास में गाँव के जमींदार राजनेताओं से पोषित पुलिस अपने बल और अधिकारों का दुरूपयोग करके नटनियों की विवशता का फायदा उठाते हैं।

राजनेताओं के घिनौने दाँव ग्राम्य–लोकजीवन में सांप्रदायिक तनावों को बढाकर उसे अनेक जातियों में खंडित कर देते हैं। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'परती परिकथा'(1957), उपन्यास में कुबेरसिंह गाँव में सांप्रदायिक जहर को फैलाता है। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा'(1959), में पियरी गाँव की सांप्रदायिक समस्या स्कूल, पंचायत यहाँ तक कि मन्ने–मुन्नी की दोस्ती को भी संदेह की दृष्टि से देखती है।

स्वतंत्रता पूर्व काल की अँग्रेजी न्याय–व्यवस्था आजादी के बाद केवल देसी बन जाती है। इस न्याय–व्यवस्था से सभी लोगों का मोहभंग होता है। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में न्याय–व्यवस्था के अन्यायकारी रूप को उजागर करने में अनेक उपन्यास सफल हुए हैं। भैरवप्रसाद गुप्त के 'सती मैया का चौरा' (1959), उपन्यास में लेखक न्याय–व्यवस्था की सही व्याख्या करते हुए कहते हैं –"तुम्हारे पास पैसा नहीं तुम न्याय नहीं खरीद सकते तो इसमें विधान का क्या दोष है? सरकार का क्या दोष है ? कानून का क्या दोष है ? दुकानदारों का क्या दोष है ?"[12] न्याय सचमुच खरीद–फिरोख की वस्तु बन गया है। चंद पूँजीपतियों के रूपयों का मोहताज बन चुका है। स्पष्ट है कि राजनीतिक व्यवस्था के विकृत रूप को विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में उजागर किया है।

2.1.4 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्राम–सुधार की नव चेतना :–

आजादी के बाद प्रजातंत्रीय व्यवस्था ने लोगों को अपने हकों–अधिकारों के प्रति सचेत बनाया। लोगों के मन में शिक्षा के प्रति अनुराग निर्माण हुआ और वे शिक्षा के महत्त्व को समझने लगे। सुदूर अँचलों में बसे लोग परिवर्तन और सुधार के लिए छटपटाने लगे। गांधी बाबा की 'सर्वोदयी' ग्राम–संकल्पना को यथार्थ की भूमि पर लाने के लिए प्रयास कर रहे हैं। परिवर्तनशील ग्राम को प्रमुखता देकर नागार्जुन के उपन्यास 'दु:खमोचन' (1956), का नायक दु:खमोचन श्रमदान द्वारा सडक निर्माण, बाँध बनाने, जली हुई बस्तियों को फिर से बसाकर पुनर्निर्माण का कार्य करता है। लोगों ने अब सामूहिक प्रयत्नों के अभाव में ग्राम–सुधार संभव नहीं, यह समझ लिया है। इस कारण ग्रामों में शिक्षित स्थानीय नेता चुनने की आवश्यकता को महसूस किया जा रहा है। नागार्जुन के 'बलचनमा' (1952), और दु:खमोचन (1956), उपन्यास के नायक बलचनमा और दु:खमोचन स्थानीय नेता के उदाहरण है।

निम्न जातियों ने भी अपने हकों–अधिकारों को पहचान लिया है। अपने नेता के कुशल मार्गदर्शन के कारण वह सामूहिक रूप से दमनकारी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह कर रहे हैं। अब वे किसी भी हालत में जमींदारों के आगे झुकने को तैयार नहीं। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' (1954), उपन्यास का कालीचरण गाँव में नव–विचारों का प्रसार करता है। लोग निर्भयता से कहते हैं – "कमानेवाला खायेगा,

जमीन किसकी ?जोतनेवाले की।"[13] इस नवचेतना के कारण निम्न जातियाँ अपना परंपरागत काम छोडकर शिक्षा ग्रहण करना चाहती है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' (1954), उपन्यास में नाई, धोबी, चमार आदि छोटी जातियाँ पुश्तैनी काम करने का विरोध करती है। ग्रामों के सामूहिक संघर्षों ने उनको अपने हकों–अधिकारों से परिचित करवाया जिसके कारण गाँवों में नवचेतना, परिवर्तन एवं सुधार को बढावा मिला।

* निष्कर्ष :–

स्वतंत्रतापूर्व काल से लेकर सन् 1959 तक के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आँचलिकता स्वातंत्र्योत्तर युग की देन है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' के 'मैला ऑचल' (1954), उपन्यास से इसका प्रचलन माना जाता है। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में आजादी पूर्व तथा आजादी के बाद के प्रजातंत्रीय व्यवस्था में बसे ग्रामों का प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है। आजादी के बाद शोषण प्रणालियों के कारण नारी, किसान–मजदूरों के अमानवीय अत्याचार तथा शोषण के खिलाफ वर्ग चेतना का उदय प्रजातंत्रीय व्यवस्था में अधिकार जागृति का द्योतक है। विवेच्य काल में राजनीति के विकृत रूप के दर्शन होते हैं। तमाम विसंगतियों के बावजूद ग्राम–सुधार के प्रयत्न ग्राम–अस्मिता को नई पहचान देते हैं। विवेच्य काल के सफल ग्रामांचलिक उपन्यासों ने भविष्य के आँचलिक उपन्यासों का मार्ग प्रशस्त किया है।

2.2 सन् 1960 से सन् 1975 तक का ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य:

स्वातंत्र्योत्तर काल में ग्रामीण समाज के विकास के लिए सरकार द्वारा अनेक विकास योजनाओं का परिचालन हुआ। परिणाम स्वरूप बरसों से जानवरों से भी बदतर जीवन यापन करनेवाले ग्रामीणों में चेतना का उदय हुआ। अपने जीवन स्तर को ऊँचा रखने के लिए ग्रामांचलों में प्रयास किया जाने लगा। भारतीय संविधान में पिछडी जातियोंको आरक्षण, शिक्षा के सुनियोजित अवसर, विविध व्यवसाय की योजनायें, मताधिकार आदि के कारण ग्रामांचलों में विकास के दालान खुल गए। शहरों तथा महानगरों की प्रगति से प्रभावित अनेक गाँव विकास के लिए प्रयत्नरत रहे। इसके परिणाम स्वरूप ग्राम्य जीवन में बिखराव, मूल्य–विघटन, बदलते परिवार समाज का

परिवर्तित रूप आदि का प्रतिबिंब हमें सन् 1960 से सन् 1975 के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।

सन् 1960 के हिंदी साहित्य विश्व में ग्रामांचलिक उपन्यासों की बाढ आयी और यह दौर आठवें दशक तक बरकरार रहा। डॉ. विमल शंकर नागर के मतानुसार – "स्वातंत्र्योत्तर काल में ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के ही पुनर्निर्माण के सर्वाधिक नियोजित प्रयास किये गए है, और संभवतः इसीलिए हिंदी के आँचलिक औपन्यासिक जगत ने ग्रामीण समाज की पृष्ठभूमि पर आँचलिक उपन्यास साहित्य का अपेक्षाकृत अधिक निर्माण हुआ।"[14] विवेच्य काल में रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' (1961), हिमांशु श्रीवास्तव के 'नदी फिर बह चली' (1961) ,भैरवप्रसाद गुप्त के 'धरती' (1962),नागार्जुन के 'उग्रतारा' (1963) राही मासुम रझा के 'आधा गाँव' (1966),शिवप्रसाद सिंह के 'अलग–अलग वैतरणी' (1966) ,विवेकी राय के 'बबूल' (1967) ,श्रीलाल शुक्ल के 'राग–दरबारी' (1968), रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), हिमांशु जोशी के 'अरण्य' (1973), जगदिश चंद्र पांडे के 'धरती धन न अपना' (1972) आदि ग्रामांचलिक उपन्यास मिल का पत्थर साबित हुए, जिन्होंने विकास से प्रभावित बदलते गाँवों की नयी मानसिकता, परिवर्तनशील ग्रामांचलों का यथार्थ परिचय करवाया।

2.2.1 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में जाति–व्यवस्था का परिवर्तित रूप :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्रामीण समाज के परिवर्तित रूप को देखा जा सकता है। इस काल में भारतीय संविधान के अनुसार समता की भावना जोर पकडती गयी। समाज में परंपरागत वर्ण व्यवस्था, जाति–व्यवस्था, अस्पृश्यता के बंधन क्षीण होने लगे। शताब्दियों से आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए, संपूर्ण व्यवस्था द्वारा शोषित हुए वर्ग में चेतना का उदय हुआ। समाज सुधारकों के निरंतर प्रयास और भारतीय संविधान में इस वर्ग के विकास हेतु दी गई सुविधाओं के कारण इस वर्ग में न्यून भावना कम होकर स्व–अस्मिता का निर्माण हुआ। इस कारण सेकड़ों–हजारों सालों से विवशता में जीनेवाला दलित वर्ग प्रगति पथ पर स्वाभिमान से मार्गक्रमण कर रहा है। आरक्षण नीति तथा शैक्षिक सुविधाओं के कारण दलित जातियों में विकास की दिशाएँ वृद्धिंगत हुई।

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में अनेक जगहों पर ग्रामीण समाज के वर्णव्यवस्था, जाति–व्यवस्था में आये परिवर्तन को देखा जा सकता है। राही मासूम रझा के 'आधा गाँव' (1966), उपन्यास में गाजीपुर अँचल में रहनेवाला परसराम (दलित), एम.एल.ए. होकर प्रशासक का कार्य करता है। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'पानी के प्राचीर' (1961), में संध्या निरू के विवाह के संबंध में कहती है –"हाँ, चाची, आज कल के पढ़े–लिखे लोग दुसरी जाति में विवाह करते हैं, तुम्हें ताज्जुब क्यों होता है ? जाति-पाति तो झुठे बंधन है।"[15] संध्या का यह स्वर सामाजिक परिवर्तन का ही द्योतक है। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी की महक' (1969), उपन्यास में धनंजय और प्रेमा जातिवाद समस्या का उन्मूलन करने के लिए समाज के समक्ष अंतरजातीय विवाह का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

भारत सरकार ने हरिजनों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति सुधारने के बहुमुखी प्रयास किए। शैक्षणिक एवं आर्थिक क्षेत्र के साथ आज हरिजन धार्मिक क्षेत्र में भी अन्य जातियों के साथ समता प्राप्त कर रहा है। इसी कारण सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी के महक' (1969), उपन्यास में युगों से सामाजिक विषमता एवं उपेक्षा से पीड़ित हरिजन आज समाज के अन्य जातियों के साथ मंदिरों में प्रवेश पा रहा है। इस परिवर्तन के संबंध डॉ. विमलशंकर नागर लिखते हैं –"भारतीय ग्रामीण जनता समाजवादी व्यवस्था के लक्ष्यों को पूर्ण रूपेण प्राप्त करने के लिए समता एवं मानवता के सिद्धांतों के आधार पर एक नवीन समाज के संरचना करने के लिए जागरूक हो चुकी है।"[16] अतः स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज में जाति व्यवस्था के परिवर्तित रूप को विवेच्य काल के आँचलिक उपन्यासकारों ने भलिभाँति अपने साहित्य में मुखरित किया है।

2.2.2 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्रामीण परिवारों का परिवर्तित रूप :–

भारतीय ग्रामीण समाज में शताब्दियों से संयुक्त परिवारों का प्रचलन रहा है। लेकिन आजादी के बाद शिक्षा प्रसार एवं आर्थिक महत्ता के कारण आज संयुक्त परिवार टूटकर लघु परिवार बन रहे हैं। संयुक्त परिवारों में लगातार ह्रास हो रहा है। परिवार विघटन के कारण लघु परिवारों की संख्या में वृद्धि हो रही है। ग्रामीण समाज में परिवारों के इस विघटन एवं माता–पिता से संतान के मनमुटाव का कारण नयी और

पुरानी पीढ़ी के विचारों के मतभेद है। नयी पीढ़ी शिक्षा ग्रहण करने के कारण वह परिवर्तन चाहती है। लेकिन परिवार के परंपरागत विचारों से नयी पीढ़ी का दम घुँटने लगा है। राजकुमारी सिंह के मतानुसार –"ग्रामीण समाज में व्याप्त कुव्यवस्थाओं, परंपरागत नैतिक मान्यता के प्रति आक्रोश व आनास्था का भाव जागृत होना स्वाभाविक था। संकुचित मनोवृत्ति ने नवीन पीढ़ी को क्षुब्ध ही नहीं किया उनमें कहीं गहराई से टूटन व आत्मपीड़न, अपने परिवेश से भाग जाने की मनोवृत्ति को उकसाने लगी। उबानेवाली परिस्थिति में चारों ओर एक नीरसता एवं अवघुटन के वातावरण को फैलाने लगी। इसी शोचनीय स्थिति में ग्रामीण अँचल के परिवेश को परिवर्तित करने की धारणा बलवति होने लगी।"[17] इस धारणा के कारण परिवारों के आदर्श खंडित होने लगे हैं।

परिवारों के परिवर्तित रूप को हम विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास –साहित्य में देख सकते हैं। शिवप्रसाद सिंह के 'अलग–अलग वैतरणी' (1966), उपन्यास में उत्तर प्रदेश के करैता ग्राम के डॉ. देवनाथ और उनके पिता में वैचारिक मतभेद है। उसके पिता उसे गाँव में दुकान खोलने को मना करते हैं और उसकी मर्जी के खिलाफ उसकी शादी तय कर देते हैं जिसके कारण दोनों के संबंधों में तनाव निर्माण होता है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), उपन्यास में भी संयुक्त परिवारों के टूटने, आर्थिक आधार पर बनती परिवारों की दूरियाँ, मूल्य–विघटन की स्थिति, नैतिक गिरावट आदि के कारण परिवार विघटन को स्पष्ट किया गया है। अतः विवेच्य काल में संयुक्त परिवारों के आदर्श खंडित हुए है। लघु–परिवारों का निर्माण ग्रामीण जीवन पर शहरी प्रभाव को स्पष्ट करता है। अर्थ की महत्ता, मूल्य–विघटन, नयी–पुरानी पीढ़ी के संघर्ष के कारण परिवार बिखर चुके हैं।

2.2.3 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास – साहित्य में ग्रामीण नारी का परिवर्तित रूप :–

स्वातंत्र्योत्तर काल में नारी शिक्षा अभियान, समाजसुधारकों के सुनियोजित नारी विकास कार्य के कारण नारी परंपरागत बंधनों से मुक्त होने के लिए पूर्ण रूप से तो नहीं लेकिन अंशिक रूप में आगे आने लगी। शिक्षा के अवसरों ने उसे हकों–अधिकारों के प्रति सचेत किया। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य

में नारी एक ओर परंपरा का बोझ ढोती है तो दूसरी ओर पुरूषप्रधान व्यवस्था में खुद का मुकाम बनाने के लिए प्रयत्नरत भी है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार के द्‌वारा चलाए गए नारी सबलीकरण, शिक्षा अभियान के कारण ग्रामीण समाज में अब अनेक लडकियाँ विद्‌यालयों, कॉलेजों में शिक्षा अर्जित कर रही है। रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' (1961), उपन्यास में बिहार अँचल की मलारी एवं कछार अँचल संध्या शिक्षा प्राप्त करने के लिए ग्रामों से बार शहर जाती है। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी के महक' (1969), उपन्यास की गौरी एक ऐसी समाजसेविका है जो मानवतावादी दृष्टि से ग्रामीण जनता के कल्याण के लिए सर्वस्व को समर्पित कर देने के लिए तत्पर रहती है। वह निर्धन महिलाओं को एकत्रित करके चरखा चलाने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करती है। मुस्लिम समाज में भी शिक्षा प्रसार के कारण नारी के उपर बंधन शिथिल हो चुके हैं। सुशिक्षित महिला सम्मान की पात्र बन रही है। राही मासूम रझा के 'आधा गाँव' (1966),उपन्यास की सईदा बी.ए. बी.टी. तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अलिगढ़ में सर्विस करने लगती है।

अतः स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में नारी शिक्षा के प्रसार के कारण नारी के जीवन विषयक दृष्टिकोण में थोडा–सा परिवर्तन आया है। भारतीय संविधान में भारतीय नारी उत्थान के अनेक मार्ग प्रशस्त किए हैं। जिससे नारी के विकास के लिए सभी क्षेत्र खुले हुए हैं। इससे नारी के सामाजिक जीवन में आमूलचूल परिवर्तन विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।

2.2.4 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्रामीण राजनीति का परिवर्तित रूप :–

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय संविधान के अनुसार कानूनन सामाजिक विषमता का उन्मूलन किया गया। भारत सरकार ने राष्ट्रीय चुनाव व्यवस्था में शताब्दियों से पिछडे हुए हरिजनों को विशेष सुविधायें प्रदान की है। अपना नेता चुनने का मताधिकार ग्रामीण समाज ने ऐतिहासिक क्रांति का सूचक है। मताधिकार एवं विचार–अभिव्यक्त करने की आजादी ने ग्रामीण समाज को विकास पथ पर आगे बढाया। ग्राम राजनीति के कारण ही ग्राम विकास के जादा तर कार्य सफल हुए। यातायात के साधनों का प्रबंध, सडकों का निर्माण, स्कूल–कॉलेजों का निर्माण,

चिकित्सालयों का निर्माण आदि जीवनावश्यक योजनाओं का शुभारंभ हुआ। इसके साथ ही ग्रामीण राजनीति में विशेष वर्ग की प्रभुता ने ग्रामीण विकास में रोडे अटकाने का कार्य किया। राजनीति को व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया गया। इन सबका चित्रांकन विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास– साहित्य में दिखाई देता है।

राही मासूम रझा के 'आधा गाँव' (1966), उपन्यास में परसराम हरिजन विधायक चुना जाता है। तथा संपूर्ण क्षेत्र की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। इसी उपन्यास के अँचल का रिसराम एम. एल .ए हम्मीद मियाँ से गाँव में सडक बनाने एवं स्कूल खोलने के संबंध में बताते हुए कहता है "इत्ति तकाबी यहाँ बाँटी गई है – दो तरफ से पुख्ता सडकें बन गई हैं कि आधे घंटे में आप लोग शहर पहुँच जाते हैं। गाँव में हर गली पक्की हो गई है। दो स्कूल चल रहे हैं ....और कोई सरकार इससे ज्यादा कर सकती है।"18 गाँव में विकास की नयी लहर दौड़ रही है जिससे ग्रामीण लोग सरकार पर प्रसन्न है।

रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), उपन्यास में नेताजी ग्रामपंचायत के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं – "भारत की सच्ची आत्मा पंचायत में ही है।"[19] प्रजातंत्र के आगमन एवं मताधिकार से ग्रामपंचायत में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। लेकिन सरकार द्वारा दी गई सुविधा को वे ही लोग ले पाते जो प्रशासन से जुड़े हो या फिर गाँव का नेतृत्व करते हो। गाँव की पंचायत में भ्रष्ट लोगों का प्रादुर्भाव एक संकट है। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी के महक' (1969), उपन्यास में इन्जोरिया महंथ के खिलाफ न्याय माँगने जाती है किंतु पंचायत उसी को ही दोषी ठहराती है क्योंकि पंचायत का मुखिया भी इन्जोरिया का महंथ के साथ उपभोग कर चुका है। इस प्रकार पंचायतों में सत्ताधारी वर्ग पंचायत की शक्ति का इस्तेमाल व्यक्तिगत, पारिवारीक एवं वर्गीय हितों के लिए करते हैं।

भारतीय प्रशासन के सेवकों पुलिस, दरोगा, सरकारी कार्यालय के मुलाजिम के शोषण तथा न्याय व्यवस्था के भ्रष्ट रूप को विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में देखा जा सकता है। प्रशासन तथा न्याय व्यवस्था पर राजनेताओं का प्रभाव रहता है। पुलिस, सरकारी कर्मचारियों के शोषण प्रणालियों कां गाँव के राजनेताओं का खुला प्रोत्साहन मिलता है। रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' (1961), उपन्यास में पुलिस बैजनाथ को बिंदिया को रखेल रखने के अपराध में गिरफ्तार करने जाती है किंतु मुखिया द्वारा रिश्वत देने की व्यवस्था करने पर वह उसे छोड देती है।

15887

रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), उपन्यास में सरकारी मुलाजिम समय पर लगान के न मिलने पर गाँववालों पर रौब झाडते हैं और अंत में घूँस मिलने पर शांत हो जाते हैं। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी की महक' (1969),उपन्यास में थानेदार साहब बलात्कार के अपराध में गिरफ्तार मुजरिमों से दो हजार रुपये लेकर उन्हें छोड देते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारी सेवकों के अवैधानिक कार्यों से ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य भरा हुआ है।

न्याय–व्यवस्था के परंपरागत स्वरूप में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। न्याय अर्थ के स्तर पर बिकाऊ बनता है। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी की महक' (1969),उपन्यास में न्याय को खरीदकर एतवारी मिसर की प्रतिष्ठा को खत्म करने के लिए उसपर बलात्कार का झुठा मुकदमा दायर करता है।

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में विविध राजनीतिक दलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका पायी जाती है। रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' (1961), उपन्यास में रग्घू भारतीय काँग्रेस दल का सदस्य और गांधीजी से प्रभावित है। राजनीति में उच्च पद की प्रतियोगिता के कारण कर्मठ काँग्रेसी दल में भ्रष्टाचार का उद्‌भव एवं विकास होता है। इसके साथ विरोधी राजनीतिक दल का भी चित्रण मिलता है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), उपन्यास में कम्युनिस्ट नेता रामकुमार स्वतंत्रता प्राप्ति से अपेक्षित उपलब्धियों के पूरा न होने पर सरकार की अलोचना करता है। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी की महक' (1969),उपन्यास में साम्यवादी विचार से प्रभावित कालीचरण बाढ – ग्रस्त जनता के लिए चंदा माँगने आये जन–समूह उत्तर देता हुआ कहता है "मैं गांधीवादी लोगों की तरह भीक की रोटी से उनका पेट नहीं भरना चाहता हूँ। मुझे क्रांति चाहिए।"[20] इन दलों ने ग्राम जीवन की राजनीतिक चेतना को मुखरित किया जिससे जनता में एक नवीन जागृति का प्रकाश फैल गया।

राजनीति में मूल्य–विघटन का संदर्भ विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में देखा जा सकता है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मतानुसार –"आज सामाजिक एवं राजनीतिक विघटन केवल इसी लिए बढ रहा है क्योंकि सभी राजनीतिक दल जनता से दूर जा पडे हैं। और अपने–अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं क्षुद्रता के संकीर्ण दायरों में पनप रहे हैं।"[21] रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969), उपन्यास में राजकुमार जीवनारंभ में काँग्रेसी कार्यकर्ता था किंतु बाद में समाजवादी दल में जाता है क्योंकि काँग्रेसी दल की आजादी के बाद भ्रष्टाचार पूर्ण

एवं सिद्धांतहीन नीति से वह निराश होता है। शिवप्रसाद सिंह के 'अलग–अलग वैतरणी'(1966), उपन्यास में राजनीति में सहभागी समृद्ध लोग ग्रामीण जनता के भोलेपन का फायदा उठाकर राजनीति का दुरुपयोग करते हैं। इसी उपन्यास में नेता लच्छी राम घनभरन से भाषण देन का शुल्क पचास रूपये माँगता है। इस काल के राजनीतिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. विमलशंकर नागर लिखते हैं –"स्वातंत्र्योत्तर काल के भारतीय ग्रामीण समाज के राजनीतिक जगत के विकास एवं ह्रास, उत्थान एवं पतन, जड तथा चेतन, अधुनातन तथा प्राचीनतम , स्वार्थपूर्ण एवं राष्ट्रीय मानव कल्याणकारी भावना से परिपूर्ण कार्य तथा गतिविधियों एवं परंपरा और परिवर्तन के विविध तथा नूतन आयामों को वाणी प्रदान की है।"[22] विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में राजनीति का परिवर्तित रूप गाँव के विकास में सहायक भी है और कभी–कभी विघातक भी है। भारतीय समाज में सभी जाति–बिरादरियों में राजनीति का बँटवारा होने के कारण सभी जातियों के लोगों को राजनीति का दरवाजा खुला हो रहा है।

2.2.5 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य में ग्रामीण सुधार की चेतना :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में अनेक जगहों पर ग्राम सुधार की चेतना मुखरित हुई है। सरकार की विविध विकास योजनाओं के क्रियान्वयन के कारण ग्राम–जीवन का स्तर ऊँचा उठा। विकास योजनओं में पिछडे हरिजनों को सहुलियत देने के कारण अब वे स्वाभिमान से जी रहे हैं। राही मासूम रझा के 'आधा गाँव' (1966), उपन्यास में परसराम (हरिजन) एम. एल .ए होकर अपने समाज का सामाजिक और आर्थिक सुधार करने के लिए प्रयत्नशील है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षा के सुनियोजित प्रचार एवं प्रसार से ग्रामीण समाज ने शिक्षा के महत्त्व को समझ लिया है। शिक्षा का प्राथमिक स्तर पर प्रसार प्रशंसनीय है। नारी शिक्षा के सुनियोजित प्रयासों के कारण ग्रामीण लडकियों में आत्म चेतना उत्पन्न हुई है। राही मासूम रझा के 'आधा गाँव' (1966), उपन्यास की सईदा और सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी की महक' (1969),उपन्यास की गौरी शिक्षा की महत्ता का प्रचार एवं प्रसार करती है। इस शिक्षा के महत्त्व को समझकर रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' (1969),उपन्यास की शारदा मिडिल में प्रथम श्रेणी प्राप्त करती है

और 'आधा गाँव' (1966), उपन्यास में मुस्लिम लडकियाँ शिक्षा के लिए गाँवों से शहर जाती है तथा स्कूल में प्रथम श्रेणी प्राप्त करती है। शिक्षा के ग्रामांचलों में बढते महत्त्व समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व के महान लक्ष्यों का निर्वाह तेजी से हो रहा हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण विकास के लिए यातायत की साधनों का प्रबंध, सडकों का निर्माण, चिकित्सालयों का निर्माण, स्कूलों की स्थापना आदि के कारण गाँव अपनी नई पहचान बना रहे हैं। शिवप्रसाद सिंह के 'अलग–अलग वैतरणी' (1966), उपन्यास में शशिकांत करैता 'ग्राम्य में रचनात्मक कार्य करके गाँव के विकास के लिए प्रयत्नरत है। सच्चीदानंद धुमकेतू के 'माटी की महक' (1969),उपन्यास की गौरी भू–दान आंदोलन, सेवाग्राम चरखा सेंटर के द्वारा पिछडे देहातियों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की कोशिश कर रही है। अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्रामीण विकास की योजना का उदय हुआ है। प्राथमिक स्तर पर ही क्यों न हो लेकिन ग्राम सुधार का स्वर विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में गूँज उठता है। सन् 1975 के बाद पूर्ण रूप में परिवर्तित ग्रामीण जीवन की छवि हमें ग्रामीण उपन्यास-साहित्य में देखने को मिलती है।

* निष्कर्ष :–

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि सन् 1960 के बाद हिंदी साहित्य विश्व में आँचलिक उपन्यासों की बाढ सी आई। जिससे हिंदी आँचलिक साहित्य को अनेक सशक्त रचना और रचनाकार मिले। शिक्षा के सुनियोजित अवसर, आरक्षण नीति, विविध ग्रामविकास योजनाओं का क्रियान्वयन, नारी सबलीकरण आदि से ग्राम-जीवन ने करवट बदल ली। समाज में जातीय व्यवस्था के बंधन शिथिल हुए। नारी शिक्षा से सम्मान का पात्र बनी। राजनीति के विधायक एवं विकृत रूप के दर्शन विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में होते हैं। राजनेताओं से पोषित प्रशासकीय सेवकों से शोषण निरंतर रहता है। विवेच्य काल में राजनीति के मूल्य–विहिन सफर का जायजा उपन्यासों में अनेक जगहों पर मिलता। शिक्षा तथा अर्थ महत्ता के कारण संयुक्त परिवारों के आदर्श खंडित होते हैं। इन सबके बावजूद यातायात के साधनों का प्रबंध, सड़क निर्माण, स्कूल का निर्माण, स्वास्थ्य केंद्रों का निर्माण आदि से ग्राम-सुधार की चेतना मुखरित हो उठती है। अतः विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास ग्राम–यात्रा का यथार्थवादी लेखा–जोखा का प्रस्तुत करते हैं।

2.3 सन् 1975 से सन् 1990 परिवर्तित ग्रामांचलिक उपन्यास –साहित्य :–

सन् 1975 तक आते–आते भारत का ग्रामांचल काफी समृद्ध हुआ। इस स्थिति में ग्रामांचलिक उपन्यासों ने हिंदी साहित्य को अनेक सृजनात्मक रचनाएँ और रचनाकार दिए। जिससे हिंदी भाषा अधिक समृद्ध बनी। इन साहित्यिकों ने अनेक अनछुए ग्रामांचलों की जन–जातियों के जीवन को वाणी देकर गाँवों के यथार्थ जीवन का, वहाँ की नई मानसिकता, संघर्षशीलता, परिवर्तित ग्रामांचलों की विकास–यात्रा को स्पष्ट करने का प्रशंसनीय एवं प्रमाणिक प्रयत्न किया है। स्वतंत्रता पूर्व काल के ग्रामांचल विवेच्य काल में पूरी तरह परिवर्तित हो गए। शिक्षा, रोजगार, ग्राम–विकास, विज्ञान की समझ, कृषि में विज्ञान तकनीकी का प्रयोग, नारी अस्मिता, आदि के कारण ग्रामांचलों ने अपनी करवट बदल ली। डॉ. यादवराव धुमाळ के मतानुसार –"सातवें–आठवें दशक का ग्राम जीवन अपने पूर्व जीवन से काफी बदला हुआ नजर आता है। कृषि का औद्योगिकीकरण, ग्रामों का शहरीकरण जिसके परिणाम स्वरूप उनकी विकृतियाँ भी गाँव और कस्बे के जीवन में घर कर गई है।"[23] इसी बदलते ग्रामीण परिवेश का प्रतिबिंब विवेच्य काल के ग्रामांचलिक-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।

सन् 1975 से ग्रामांचलिक उपन्यासों में शिथिलता आई लेकिन नवम दशक में इसने फिर से नया रूप ग्रहण कर लिया। नवम दशक में भूमंडलीकरण के कारण समस्त विश्व सिमटता रहा। मानवी जीवन में आई भौतिकता, अंधानुकरण, मूल्य-विघटन, नैतिकता का पतन, आदि से ग्रामांचल भी अछूते नहीं रहे। अर्थ–केंद्रित शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियाँ और राजनीतिक पतन के कारण ग्रामांचलों का जीवन अभावों से ग्रस्त रहा। जमींदारी उन्मूलन के कारण गाँव के पूँजीपति जमींदार अपनी विकृत मानसिकता के कारण ग्रामवासियों का शोषण कर रहे हैं। राजनीति में प्रविष्ट प्रदर्शनप्रियता, भोगवादी प्रवृत्ति, स्वार्थांधता आदि के कारण गाँवों में मोहभंग की स्थितियाँ निर्माण हुई हैं। विवेच्य काल में उपन्यासों के साथ ही इनमें विषय वैविध्य आया है। इसी का लेखा-जोखा विवेच्य काल के ग्रामांचलिक साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। इस काल के आँचलिक साहित्यिकों ने अपनी रचनाओं में गाँवों के साथ-साथ अनछुए पहाडी अँचल, आदिवासी जन-जातियों के जीवन को अपने उपन्यासों के विषय

बनाए है। विषय, कथ्य को लेकर इन उपन्यासों ने नई करवट ली, जो बदलते ग्रामांचलों का परिणाम है।

विवेच्य काल में हिमांशु जोशी के 'कगार की आग' (1976), जगदीश चंद्र के 'कभी न छोडे खेत' (1976), और 'मुठ्ठीभर कांकर (1976), गोविंद मिश्र के 'लाल पीली जमीन' (1976), विवेकी राय के 'लोकऋण' (1977),कृष्णा सोबती के जिंदगी नामा (1979),मार्कंडेय के 'अग्निबीज' (1981), राकेश वत्स के 'जंगल के आस पास'(1982), विवेकी राय के 'सोनामाटी'(1983),हिमांशु जोशी के 'सुराज्य' (1984), तिलकराज गोस्वामी के 'चंदनमाटी' (1985), सुरेशचंद्र श्रीवास्तव के 'वनतरी' (1987), रामदेव शुक्ल के 'विकल्प' (1988),शिवप्रसाद सिंह के 'शैलुष' (1990), आदि उल्लेखनीय आँचलिक उपन्यास लिखे गए। अतः विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों के परिवर्तित रूप को देखने का प्रयास उपर्युक्त रचनाओं के माध्यम से किया है। विवेच्य काल में ग्रामांचलों का बदलता परिवेश, बिखरा हुआ समाज जीवन, राजनीतिक पतन, पूँजीवादी शोषण, पुलीस माहौल में पनपनेवाला भ्रष्टाचार और उसके विरोध में जागी ग्रामीणों की संघर्षशील मानसिकता को स्पष्ट करने का हमने लघु प्रयास किया है।

2.3.1 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्रामांचलों का अभावग्रस्त जीवन :–

स्वाधीनता संग्राम के पश्चात् सुनहरे भविष्य का सपना लेकर भारतीय संविधान का निर्माण हुआ। विविध विकास योजनाओं के जरिये गावों का सुनियोजित विकास करने का खोखला आश्वासन दिया गया। आज भी अनेक ग्रामांचल विकास से बेखबर रहकर शोषण और नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त दिखाई देते हैं। विकास मात्र सरकारी कार्यालयों के कागजों में बंद है। विकास का क्रियान्वयन ठिक तरीके से हुआ अथवा नहीं ये देखना सरकार अपना कर्तव्य नहीं समझती। गाँवों के विकास हेतु अनेक योजनाओं को बनाया गया है। लेकिन इसका रसास्वादन गाँव के उच्चवर्ग लोग ही कर रहे हैं। ग्रामांचल इन योजनाओं से बे-खबर भूख, गरीबी, लाचारी, बिमारी में जीवन यापन करने के लिए अभिशप्त है। गाँव की पूँजीवादी मानसिकता, सरकारी कार्यालयों के सेवकों की भ्रष्ट नीति और निष्क्रियता से ग्रामवासी अभाव ग्रस्त जीवन यापन कर रहे हैं। शिक्षा क्षेत्र की विसंगतियों में ग्रामांचलों के नवयुवकों को बेरोजगारी की कतार में खडा किया। शिक्षा का प्रसार हुआ लेकिन वहाँ

भी चंद उच्चवर्गीयों का ही बोलबाला रहा परिणाम स्वरूप गाँव का अधिकतर समाज शिक्षा से भी उपेक्षित रहा।

विवेच्य काल के ग्रामाँचलिक उपन्यास साहित्य में गाँवों के इसी अभावग्रस्त जीवन के दर्शन होते हैं। मार्कंडेय के 'अग्निबीज' (1981), उपन्यास में हरिजनों के घरों में गरीबी, भूख और अभाव का अंखड साम्राज्य है। बिसेसर की बेटी रधिया की दवा के अभाव में मृत्यु होती है। विवेकी राय के 'सोनामाटी'(1983), उपन्यास में सामान्य किसानों के घरों में गरीबी और अभाव का माहौल निरंतर है। कडी मेहनत के बावजूद वह दो जून की रोटी के लिए मोहताज है। पहाडी अँचलों में बसे गाँवों की दशा तो इससे बदतर है। प्राकृतिक जटिलताओं, यातायात के साधनों के अभाव से इनका घोटुल जीवन नारकीय यातनाओं से गुजर रहा है। हिमांशु जोशी के 'सुराज्य' (1984), उपन्यास में पहाडी सामान्य लोग अर्थाभाव, गरीबी और भूख से त्रस्त पाये जाते हैं। भवानी का बेटा रूपयों के अभाव में पाठशाला नहीं जाता। रामदेव शुक्ल के 'विकल्प'(1988), उपन्यास में शिक्षा का अभाव, ऋणग्रस्तता, बेकारी के कारण चमारों के जीवन में पिछड़ापन और अभाव को देखा जाता है।

आजादी के पश्चात् भी गाँवों की अभावग्रस्त दशा शोचनीय है। शिक्षा क्षेत्र के विसंगतियाँ, यातायत के साधनों का अभाव, चिकित्सालयों का अभाव, अर्थाभाव, रोजगारों का अभाव आदि के कारण गाँव के लोग अपनी जीवनावश्यक जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ है। सुदूर पहाडियों में बसे गाँव तो विकास से बेखबर प्राकृतिक जटिलताओं में 'घोटुल जीवन' जीने के लिए अभिशप्त है। ग्रामाचलों की अभावग्रस्त और बदतर जीवन को देखकर विवेकी राय के 'सोनामाटी'(1983), उपन्यास का वर्मा रामरूप से कहता है कि "ऐसा लगता है कि अवागमन के साधनों के न होने से स्वराज इन गाँवों में आया ही नहीं।"[24] ग्रामांचलों में पूँजीपतियों की विकृत मानसिकता ने ग्रामांचलों के विधायक विकास मार्ग में रोडा अटका कर स्वयं विकास का रसास्वादन किया है। गाँवों की गरीबी, लाचारी का फायदा उठाकर ये पूँजीपति ग्रामवासियों को अपना दास बना रहे हैं। फलस्वरुप गाँव के नसीब में विवेच्य काल में भी अभावग्रस्तता विद्यमान है। स्पष्ट है कि विवेच्य काल के बीच परिवर्तित ग्रामांचलों को विकास कार्यक्रमों के बावजूद अभावग्रस्तता का सामना करना पडा।

2.3.2 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्रामांचलों का परिवर्तित समाज जीवन :–

विवेच्य कालखंड में भूमंडलीकरण, औद्योगिक विकास, भौतिकता के प्रति आसक्त जीवन-पद्धति, शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियाँ आदि के कारण शहरों की जीवनशैली का प्रभाव गाँव के समाज-जीवन पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गाँव भी अब शहरों की आधुनिक जीवन शैली का अंधानुकरण करके पुरानी ग्रामीण आत्मा को क्षति ग्रस्त बना रहे हैं। डॉ. यादवराव धुमाळ के मतानुसार – "ग्रामों के जन-जीवन में नागरी जीवनमानों का अनुपात देखने को मिलता है। परम्परा और प्रगति, अंधविश्वास और वैज्ञानिक समझ, स्वार्थलिप्सा और सरलता का संघर्ष, पुराना-नया संघर्ष, पारिवारिक टूटन, ग्राम से पलायन, अनैतिकता, शोषण त्योहार पर्वों में निरूत्साहता आदि के कारण ग्रामीण आत्मा ध्वंस हो गई है।"[25]

शिक्षा से आत्मकेंद्रित बनी युवा पीढ़ी में मूल्य गिरावट देखी जा सकती है। शहरों की भौतिकवादी जीवनशैली का अनुकरण करनेवाली युवा पीढ़ी में स्वार्थ, अवसरवादिता, दिखावा आदि का बाहुल्य है। नई और पुरानी पीढ़ी के वैचारिक वैषम्य के कारण पारिवारिक संबंधों में जटिलता आई है, जिसके कारण पारिवारिक टूटन का दर्द दृष्टिगोचर होता है। परिवार के सदस्य अपने ही घरों में अजनबी की तरह जी रहे हैं। पंकज विष्ट के 'उस चिडियाँ का नाम'(1989), उपन्यास में रमा और हरीश का अपने पिता के साथ अंत तक वैचारिक द्वंद्व रहता है। हरीश अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् किए जानेवाले संस्कार में कटा-कटा रहता है। यह अजनबीपन शहरों से ग्रामांचलों में आयात है। कुंठित, दमित व्यक्तित्त्व ग्राम-जीवन के खुशहाल जिंदगी को परिवर्तित कर रहा है।

विवेच्य काल के ग्रामाँचलिक उपन्यास-साहित्य में मुक्त यौनाचार, अनैतिक संबंध बदलते ग्रामीण परिवेश का द्योतक है। परंपरागत ग्रामीण मूल्य और सांस्कृतिक संदर्भ काँच की बर्तन की तरह टूँटकर बिखर रहे हैं। अवैध-यौन संबंध ग्राम-संस्कृति के पतन का द्योतक है। डॉ. क्षितिज धुमाळ के मतानुसार -"सन् 1980 के बाद ग्रामीण जीवन पर लिखे उपन्यासों में यथार्थता के साथ-साथ रोमांटिकता की बढ़ोतरी के दर्शन होते हैं। ग्राम-जीवन के अवैध-यौन संबंधों के माध्यम से इस रोमांटिता को उभारने का प्रयत्न ग्रामीण जीवन पर आधारित उपन्यासों में होने लगा है।"[26] विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में अनेक स्थानों पर अवैध-यौन संबंधों को देखा जा सकता है। डॉ. एन्. रामन नायर के 'सागर की गलियाँ' (1987), उपन्यास में नैतिक

पतन मिलता है। पंकज विष्ट के 'उस चिडियाँ का नाम'(1989),उपन्यास में कुंठित दीवान पत्नी की मृत्यु के पश्चात् सिस्टर ब्रियोनी तथा पार्वती से अवैध-यौन संबंध स्थापित करता हैं। ग्रामांचलों का यह नैतिक पतन परिवर्तित समाज जीवन को स्पष्ट करता है।

शहरों से प्रभावित ग्रामांचलों में मूल्य गिरावट, स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण नैतिक पतन गाँव के प्राचीन मधुर संबंधों में विघटन निर्माण कर रहा है। विवेकी राय के 'लोकऋण' (1977),उपन्यास में रामपुर का किसान त्रिभुवननाथ चकबंदी अधिकारियों से मिलकर सार्वजनिक पुस्तकालय को हडप कर लेता है। रामदेव शुक्ल के 'विकल्प' (1988), उपन्यास में चौबे भाई गाँव के गरीब लोगों का शोषण तो करते ही हैं, लेकिन अपनी बहन पर भी अन्याय करते हैं। ग्रामजीवन में यह कुटिल मानसिकता बुरी तरह पनप रही है जो परिवर्तित ग्रामांचलों के रूप को स्पष्ट करती है।

गाँव के युवकों में विलासी जीवन की अत्यधिक आसक्ति के कारण युवकों में नैतिकता का पतन देखने को मिलता है। गाँव की शिक्षित पीढ़ी दिशाहीनता तथा आत्मकेंद्रितता से गुजर रही है। व्यसनाधीनता, उन्मुक्त यौनाचार आदि के कारण ग्राम युवक वाम-मार्गों का क्रमण कर रहे हैं। विवेकी राय के 'सोनामाटी'(1983), उपन्यास में दिशाहीन युवा पीढी स्मगलिंग, हिंसा, चोरी, अपहरण, डकैती, गंदी राजनीति, यौन विकृति आदि में व्यस्त देखी जा सकती है। डॉ. एन्. रामन नायर के 'सागर की गलियाँ' (1987), उपन्यास में चात्तू शॉर्टकट शैली से स्मगलिंग जैसा अवैध कार्य करके अर्थ प्राप्ति करके विलासिता में जीता है। नई पीढ़ी में आई इस मूल्य गिरावट से ग्रामात्मा आहत दिखाई देती है।

ग्रामांचलों की पूँजीवादी मानसिकता, ग्रामगंदी राजनीति, बेकारी, अर्थाभाव आदि के कारण नगरोन्मुखता परिवर्तित ग्रामांचलों की तस्वीर को स्पष्ट करती है। अर्थाभाव में जी रहे भूमिहीन लोग काम की तलाश में नगरों की ओर जा रहे हैं। विवेकी राय के 'सोनामाटी'(1983), उपन्यास में आधुनिकता और औद्योगिकीरण के चलते भूमिहीन वर्ग नगरों की ओर भाग रहा है। गाँव की शिक्षित नई पीढ़ी में गाँव के प्रति विरक्ति दिखाई देती है। शिक्षा से आत्मकेंद्रित बनी युवा पीढ़ी खेतों में मेहनत करने में बेइज्जती महसूस कर रही है, वह शहरों में छोटी-मोटी नौकरी करना चाहती है। गाँव की दशा और दिशा से इन्हें कोई सरोकार नहीं। इस संदर्भ में डॉ. हारून रशीद खान 'सोनामाटी' की समीक्षा करते हुए समस्त ग्रामांचल की यथार्थ स्थिति को

व्यक्त करते हुए लिखते हैं – "बुद्धिजीविता की दौड़ में जब लोगों ने राजधानियों की ओर मुँह कर लिया तो पीछे छुट गया असुविधा,गरीबी, अशिक्षा और अराजकता आदि विडम्बनाओं में डूबा नरक जैसा बजबजाता गाँव जिसका प्रतिनिधित्व 'सोनामाटी' का कथानायक रामरूप करता है।"[27]

अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल के ग्रामाँचलिक उपन्यास-साहित्य में शहरों-नगरों की आबो-हवा ने ग्राम जीवन को परिवर्तित करके ग्रामांचल के जनमानस को प्रभावित किया। आजादी के बाद सरकार द्वारा प्रस्तुत अनेक ग्राम-विकास योजनाओं के कारण ग्रामीण जीवन-पद्धति में परिवर्तन लक्षित हो रहा है। सडकों के निर्माण के कारण गाँव शहरों से जोडे गए, जिससे शहरों की हवा ने ग्रामांचलिक जीवन में काफी हलचल मचा दी है। आत्मकेंद्रितता, षड्यंत्रकारी राजनीति आदि के कारण ग्रामांचलिक जन–जीवन में बिखराव की स्थितियाँ निर्माण हो रही है। विवेच्य कालखंड में ग्रामांचलों ने अपनी पुरानी आत्मा को ध्वस्त कर दिया है।

2.3.3 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में राजनीतिक पतन :–

स्वाधीनता पूर्व काल से लेकर आज तक के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में राजनीति व्यंग्य का विषय बन चुकी है। विवेच्य काल तक राजनीति का सफर दिशाहीन और नीतिहीन जान पडता है। राजनीति से 'नीति' पूर्णतः लुप्त हो चुकी है। विवेच्य काल की राजनीति में स्वार्थपरकता, विभिन्न पार्टियों के बीच की गुटबंदी, मूल्य विहीन राजनीति से ग्रामांचलों में निर्माण हुई मोहभंग की स्थिति, विसंगत राजनीति का कडुआ यथार्थ ग्रामांचलिक उपन्यासों में दृष्टीगोचर होता है। राजनीति में धीरे–धीरे स्वार्थपरकता और अवसरवादिता ने प्रौढत्व ग्रहण कर लिया है। जनता विरोधी सिद्धांत एवं तत्त्व राजनीति की सत्ता पर हावी है, जिन्हें गाँव और गाँव की जनता के विकास से कोई सरोकार नहीं। अतः राजनीति की इस दुरावस्था का चित्रण विवेच्य काल के ग्रामीण उपन्यासों में परिलक्षित होता है।

मार्कंडेय के 'अग्निबीज' (1981), उपन्यास में अँग्रेजों की चापलूसी करनेवाला ज्वालासिंह गांधीवादी साधो काका को किनारे कर के स्वयं विधायक बनता है और समाजसेवक का चोला पहनकर सत्ता का उपयोग अपने वर्गीय हितों के लिए करता है। हिमांशु जोशी के 'सुराज्य' (1984), उपन्यास में पहाडी अँचलों के विकास हेतु बनायी

गई योजनाओं से राजनेता स्व–विकास करते हैं। राजनीति की कुटिलता, अपराधीकरण, स्वार्थपरकता आदि से पहाडी अँचल का माहौल विषाक्त हो रहा है। कृष्णकुमार बिस्सा के मतानुसार –"सु-राज उपन्यास के गांगिका जैसे महामानव की हत्या साधारण हादसा न होकर गांधीवादी सिध्दांतों की हत्या है।"[28] विवेकी राय के 'सोनामाटी'(1983),उपन्यास में हनुमानप्रसाद का बेटा विधायक बनकर राजनीति को आमदनी का जरिया बनाता है। हनुमानप्रसाद का साला भुवनेश्वर चुनाव के दौरान भ्रष्टाचार, झुठे आश्वासन, नोट–चोट और गुंडों का प्रयोग करता है। रामदेव शुक्ल के 'विकल्प' (1988), उपन्यास में एम्. पी. साहब और मंत्री को चुनावों के समय ही गाँव की याद आती है। चुनाव के दिन कृष्णदेव के चाचा का लडका अकेला तीस फर्जी वोट डालता है।

स्पष्ट है विवेच्य काल में के ग्रामीण–उपन्यासों में राजनीतिक गतिविधियों की गहरी खोज की गई है। राजनीति में बढती कुटिलता, अवसरवादिता, स्वार्थांधता, नीतिविहीनता, जातीयता आदि से ग्रामांचलों में मोहभंग की स्थितियों, चुनावों पर बहिष्कार आदि का यथार्थ चित्रण विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में हुआ है। सही अर्थ में लगता है कि इस कालखंड की राजनीति सेवाभाव व देशभक्ति न होकर एक व्यवसाय बन गयी है। राजनीति में प्रवेश करके ये राजनीतिज्ञ केवल अपना उल्लू सीधा करते हैं।

2.3.4 विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में जमींदारों और सरकारी मुलाजिमों से ग्रामांचलों का शोषण:–

'शोषण' ग्रामांचलिक उपन्यासों में एक ऐसी शृंखला है, जो निरंतर बनी रही है। आजादी के पूर्व काल से लेकर विवेच्य काल तक ग्रामांचल शोषण की विकृत मानसिकता से उभर नहीं पाया। पूँजीपति जमींदारों से पोषित सरकारी सेवकगणों के भ्रष्ट नीतिमत्ता ने गाँव के जमींदारों को शेर की खाल पहना दी है, जिससे वे और भी खतरनाक बने हैं। विवेच्य काल का ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य खतरनाक बने पूँजीपतियों के शोषण का दस्तावेज है। मार्कंडेय के 'अग्निबीज' (1981), उपन्यास में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बावजूद जमींदार हलवाहों को जमीन से बेदखल करते हैं क्योंकि राजनीतिक सत्ता, थाना, कचहरी में इन लोगों की पहुँच है। उच्चवर्गीय ज्वालासिंह, बिंदेश्वरी, खेलावन और पंडित हरिजनों पर अमानुष अत्याचार करते हैं।

हिमांशु जोशी के 'सुराज्य' (1984), उपन्यास में पुलिस न्याय तो नहीं करती लेकिन जमींदारों के साथ मिलकर पहाडों में बसे लोगों पर अन्याय मात्र करती है। बहन पर किए गए अत्याचार का न्याय माँगनेवाले परसिया को पुलिसद्वारा पीटा जाता है। इससे क्षुब्ध होकर परसिया सोहनसिंह की हत्या करता है तब पुलिस गाँव में आकर पूँछताछ के नाम पर गाँव की सामूहिक पीटाई करती है। विवेकी राय के 'सोनामाटी' (1983),उपन्यास में ग्रामांचलों में स्थित जमींदारों द्वारा सामान्य किसानों का अमानवीय शोषण किया जाता है। 'सोनामाटी' की समीक्षा करते हुए डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ लिखते हैं – "समूची कृति इन्ही भूमिखोर भेडियों के आतंक में जी रही करइल क्षेत्र की जनता और उसके जीवन संघर्ष को महाकाव्यात्मक विस्तार के साथ प्रस्तुत करती है।"[29] रामदेव शुक्ल के 'विकल्प' (1988), उपन्यास में रूदल चौबे और पंडितजी भोले, धर्मभीरू, अभावग्रस्त गरीब लोगों को ऋणग्रस्त बनाकर उनका शोषण करते हैं।

जमींदारों की इसी शोषण प्रणाली को भ्रष्ट सेवकगणों का खुला प्रोत्साहन मिलता है। दोनों मिलकर गाँव के लिए बनायी सरकारी योजनाओं का लाभ भी उठाते हैं और ग्राम–विकास निर्माण में बाधा भी डालते हैं। मणिमधुकर के 'पिंजरे में पन्ना' (1981), उपन्यास में जमींदारों द्वारा पोषित पुलिसकर्मी बुज्जी के पति को डाकुओं को शस्त्र बनाकर देने के झुठे जुर्म में बेवजह गिरफ्तार करते हैं और रिहा करने के लिए दो सौ रूपयों की रिश्वत माँगते हैं। रिश्वत न मिलने पर उसकी औरत पर अमानुष अत्याचार करते हैं। विवेकी राय के 'सोनामाटी' (1983),उपन्यास में मैनेजर और प्रिंसिपल स्कूल को लूट का अड्डा बनाते हैं और अध्यापकों के वेतन पर हाथ मारते हैं। सुरेश चंद्र श्रीवास्तव के 'वनतरी' (1987), उपन्यास में अस्पताल, स्कूल, सड़क, राशन दूकान, सिंचाई विभाग सभी स्थानों पर भ्रष्टाचार और धांधली पाई जाती है। डॉ. घोषाल जैसे डॉक्टर सरकारी अस्पताल की दवाओं को बाजार में बेचकर रूपये कमाते हैं। रामदेव शुक्ल के 'विकल्प' (1988), उपन्यास में नरैनी में हर साल बाँध कटाव के मरम्मत के लिए मिले लाखों रूपयों की राशी को ठेकेदार, अधिकारी, गाँव के नेता आपस में बाँट लेते हैं। गाँव सुशोभिकरण के नामपर करोडों रूपयों का अपव्यय किया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में जमींदारों और सरकारी अधिकारियों की मिलीभगत से ग्रामांचल शोषण के अड्डे बने हैं। साथ ही सरकारी अधिकारियों की भ्रष्ट नीति ग्राम–विकास में अवरोध उत्पन्न

करती है। गाँव के धनिक पूँजीपति सरकारी अधिकारियों से दाँतकाटी रोटी का संबंध रखकर अपना उल्लू सीधा करके अवैध धन इकट्ठा करते हैं।

2.3.5 विवेच्य कालखंड के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में ग्राम–विकास की नई चेतना :–

स्वाधीनता पूर्व काल से लेकर विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य देखे तो एक बात विशेष है कि समस्त ग्रामांचलिक साहित्य में किसान मजदूर और निम्नवर्ग के लोग शोषण के शिकार हुए हैं, साथ ही उनमें शोषण के खिलाफ नई चेतना और संघर्ष भी प्रस्तुत है। डॉ.यादवराव धुमाळ के अनुसार –"पंचवर्षीय चुनावों से जनतांत्रिक चेतना भी क्रमशः मजबूत हुई। अपने अधिकारों के प्रति हर व्यक्ति पहले से अधिक सजग हो गया। संगठित शक्ति मजदूर और छात्र हैं तो इनके आंदोलन भी क्रमशः जोर पकडने लगे। साठोत्तरी हिंदी उपन्यास ने समसामयिक आंदोलनों की गतिविधि और उनके आकलन आदि में अपनी रूचि प्रदर्शित की।"[30] विवेच्य काल के परिवर्तित ग्रामांचलिक जन–जीवन पर आधारित साहित्य में गाँवों के साथ–साथ सुदूर पहाडी अँचलों में बसे आदिवासी जन–जातियों, कबीलाई जनजातियों में भी चेतना का संघर्षशील रूप देखने को मिलता है। पूँजीवादी मानसिकता के तहत होनेवाले अमानवीय अत्याचार के खिलाफ जागी चेतना उन्हें अपने हकों–कर्तव्यों के साथ अपने अस्तित्त्व से भी परिचित करा रही है। अतः विवेच्य काल का उपन्यास साहित्य ग्रामांचलों की चेतना से सचेतन हो उठता है। शिक्षा से पनपी अस्तित्त्व की भावना ने ग्रामाचलों में स्थित सामान्य जन–जीवन में शोषण के खिलाफ नई चेतना जाग उठी है।

मार्कंडेय के 'अग्निबीज' (1981), उपन्यास में गांधीवादी साधो काका अनुचित घटना के विरोध में तिरंगा लेकर विद्रोह की मुद्रा में खडे होते हैं। आश्रम के द्वारा हरिजन उद्धार एवं सुधार को बढ़ावा देते हैं। आश्रम में हरिजनों की लडकियों को पढ़ाने के लिए बालिका विद्यालय की स्थापना करते हैं। श्यामा, सुनीता, सागर, मुराद और बैजू जैसे नई पीढ़ी के अग्निबीज परिवर्तन पर विश्वास रखते हैं। इनकी चेतना व्यक्ति, जाति तथा क्षेत्र को लाँघकर राष्ट्रीयता तक पहुँचती हैं। हिमांशु जोशी के 'सुराज्य' (1984), उपन्यास में गांगिका द्वारा जातिभेद का विरोध करके निम्नजाति के लागों की न्यायपूर्ण लडाई खडी की जाती है। विवेकी राय के 'सोनामाटी' (1983), उपन्यास में कथानायक रामरूप आजीवन पूँजीवादी रूग्ण मानसिकता के खिलाफ संघर्ष

करता हैं। रामदेव शुक्ल के 'विकल्प' (1988),उपन्यास में कृष्णदेव संरचनात्मक कार्य करता है तो सुक्खू चमार का साहूकारों और जमींदारों के शोषण के खिलाफ चेतना का उग्र रूप मिलता है। वह मजदूरों को उनके अधिकारों के प्रति सजग करके संगठित करता है।

ग्रामांचलों के साथ–साथ आदिवासी जन–जातियों में भी नई चेतना का स्वर मुखरित होता है। राकेश वत्स के उपन्यास 'जंगल के आसपास' (1982), उपन्यास में जगतिया गाँव के शोषित एवं बँधुआ लोगों को इकट्ठा करके ईंट का जवाब पत्थर से देने की मुद्रा में खडा होता है। शिवप्रसाद सिंह के 'शैलुष' (1990), उपन्यास में सावित्री शिक्षा के महत्त्व को कबीले को समझाकर उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत करती है तो शिवप्रसाद सिंह के ही 'धार' (1990), उपन्यास में संथाल आदिवासी के प्रतिनिधि मैना और अविनाश शर्मा आदिवासियों की सहायता से सहकारिता के परिप्रेक्ष्य में 'जनखदान' का निर्माण करके पूँजीपति ठेकेदारों का मुँहतोड जवाब देती है।

अतः स्पष्ट है कि यही ग्रामांचलों की चेतना गाँवों को सचेतन बनाती है। ग्रामांचल पीढ़ी–दर–पीढ़ी शोषण का बोझा ढोते आया है लेकिन अस्मिता जागृति से विद्रोह के लिए भी प्रस्तुत हैं। सुदूर अँचलों में बसे गाँव, आदिवासी जन–जातियाँ, पहाडी लोग अपने अस्मिता–अधिकारों की ताकद से परिचित हो रहे हैं। चेतना से ऊर्जा पाकर रचनात्मक कार्यो के जरिये खुद का एवं ग्रामों का विकास कर रहे हैं। भारत सरकार के द्वारा चलाए गए अछूते अँचलों के विकास अभियान के कारण गाँवों के पीछडे हुए जनमानस में भी चेतना जागृति का आलोक फैल गया हैं। जिसका प्रतिबिंब विवेच्य कालखंड के ग्रामांचलिक उपन्यासों में देखने को मिलता है।

* निष्कर्ष :–

विवेच्य कालखंड के परिवर्तित ग्रामांचलिक साहित्य के समग्र विवेचन से निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सन् 1975 के बाद ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में शिथिलता के बाद नवम् दशक में नव–निखार आया जो परिवर्तित ग्रामांचलों का द्योतक हैं। भूमंडलीकरण, शिक्षा प्रसार, कृषि–औद्योगीकरण, पंचवर्षीय चुनाव, सडक निर्माण, चिकित्सालयों का निर्माण, विज्ञान–तकनीकी की समझ आदि के चलते ग्रामांचल पूर्व रूप से नई भंगिमा प्रदान करते हैं। विकास के साथ नव–नवीन विकृतियों ने ग्रामांचलों की पुरानी आत्मा ध्वस्त हुई। नीति पतन, स्वार्थलिप्सा, अवैध–यौन संबंध,

पारिवारिक टूटन, गुंडई, मारकाट, बेईमानी आदि से ग्रामीण जीवन में मूल्य विघटन दृष्टिगोचर होता है। विवेच्य काल में अभावग्रस्तता ने विकास योजना, शिक्षा की विसंगतियों के खोखले ग्राम-विकास का भँडाफोड किया। राजनीति के नीति विहीन रूप को विवेच्य काल में देखा जा सकता है। पूँजीपतियों एवं सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्ट एवं शोषण की रूग्ण मानसिकता ने ग्राम-विकास में रोड़े अटकाने का कार्य किया। इस शोषण के खिलाफ जन-जातियों में नई चेतना का स्वर श्लाघनीय है।

2.4. 20 वीं सदी के अंतिम दशक का ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्यः-

20 वीं सदी के अंतिम दशक (1991–2000), तक हिंदी साहित्य का सफर समृद्ध एवं स्वर्णमयी रहा। साहित्य की हरएक विधा में प्रौढत्व के साथ यथार्थ को देखा जा सकता है। विवेच्य काल में ऐसी अनेक रचनाएँ हैं, जिसमें ग्रामांचलों का यथार्थवादी जीवन दृष्टिगोचर होता हैं। आँचलिक उपन्यासों का स्वातंत्र्योत्तर सफर 20 वीं सदी के अंतिम दशक तक आते–आते अधिक कांचनमयी प्रतीत होता है। इस काल में अनेक प्रतिभावान युवा रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से ग्रामांचलों के वर्तमानकालीन परिस्थिति को पत्तों–रेशों सहित उकेरा है।

20 वीं सदी के अंतिम दशक तक आते–आते 'भूमंडलीकरण' की संकल्पना ने समस्त विश्व में अपने पैर फैलाए। भारत भी इससे अछूता नहीं रह सका। फलस्वरूप 'देहातों का देश' भारत में 'ग्लोबल विलेज' की संकल्पना प्रौढत्व ग्रहण कर चुकी है। 'वैश्विकीकरण' के कारण समस्त विश्व सिकुड़कर मुट्ठी में समा गया। बदलते परिवेश से ग्रामांचलों का प्रभावित होना लाजमी था। नगरों–महानगरों की पश्चिमी सभ्यता, शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियाँ, राजनीतिक दाँवपेचों ने ग्रामांचलों की 'राम–राज्य' वाली अस्मिता को ध्वस्त कर दिया। नगरों–महानगरों की विकृत जीवन शैली का अंधानुकरण ग्रामीण समाज को पतन की ओर ले गया। अतः विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य के माध्यम से ग्राम विकास यात्रा को जानने का हमने प्रयास किया है।

20 वीं सदी के अंतिम दशक (1991–2000) में अनेक प्रशंसनीय ग्रामांचलिक उपन्यास लिखे गये जिनमें– वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), और 'पार' (1994), जगदंबा प्रसाद का 'माटी मेरे गाँव की' (1994), मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), रामदरश मिश्र के 'बीस बरस' (1996), अब्दुल बिसिमल्लाह का 'मुखडा क्या देखे' (1996), मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' (1997), विद्यासागर नौटियाल के 'सूरज सबका है' (1997), श्रीलाल

शुक्ल के 'बिश्रामपुर का संत' (1998),रूपसिंह चंदेल के 'पाथरटीला' (1998), मैत्रेयी पुष्पा के 'झुला नट' (1999) तथा 'अल्मा कबूतरी' (2000), आदि उल्लेखनीय है। विवेच्य काल के इन ग्रामांचलिक उपन्यासों ने स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन का यथार्थवादी दर्शन होता है।

2.4.1 20 वीं सदी के अंतिम दशक के ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य का ग्राम–समाज जीवन :–

स्वातंत्र्योत्तर काल से विवेच्य काल तक ग्रामांचलों का माहौल पूर्ण रूप से परिवर्तित हो चुका है। आजादी के पश्चात् शिक्षा अभियानों का प्रसार विवेच्य काल में ग्रामांचलों का शैक्षिक स्तर उपर उठाता है। यातायात के साधन, बिजली व्यवस्था, कृषि–सिंचाई, ऋणयोजना, गाँवों का शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, सडक निर्माण, चिकित्सालयों का आधुनिकीकरण आदि से ग्रामांचलों का एक ओर विकास हुआ तो दूसरी ओर ग्राम–समाज जीवन विकृतियों से ग्रस्त रहा।

2.4.1.1 जातीय एवं धार्मिक भेद :–

शिक्षा प्रसार के बावजूद आज भी ग्रामांचलों में जातीय एवं धार्मिक भेदा–भेद को देखा जा सकता है। विकास के क्षितिज को छू रहे ग्रामांचल जातीयता के कुंठित मानसिकता के कारण विकास के सामने बौने नजर आते हैं। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य में जातीय एवं धार्मिक भेदों का वर्णन हुआ है। वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में पूरा लडैई गाँव विभिन्न जातियों में बंटा है। गाँव में आये नये आदमी से पहले उसकी जाति पूछी जाती है। जगदंबा प्रसाद का 'माटी मेरे गाँव की' (1994), उपन्यास में जमींदार एवं सवर्ण जाति के लोग हरिजनों के बेटियों की इज्जत लूटते हैं। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में सोनपुरा गाँव में बसोर, चमारों के अलग–अलग कुएँ होते हैं। सवर्ण लोग फुरसत मिलने पर निम्न जातियों के लोगों को पानी देते हैं। अब्दुल बिसिमल्लाह का 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में बहुसंख्यक हिंदुओं के गाँव में मुस्लिमों के दीन जीवन का परिचय मिलता है। अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल में शिक्षा प्रसार के बावजूद ग्रामांचलों के जीवन में जातीयता का जहर गहराई तक पहुँचा हुआ दिखाई देता है।

2.4.1.2 समाज में व्याप्त अंधविश्वास :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य में ग्राम–समाज में अंधविश्वास दिखाई देता है। वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में 'पथरा बब्बा' के मार्ग से गुजरनेवाला हरएक आदमी एक पत्थर वहाँ गाड देता है। जगदंबा प्रसाद का 'माटी मेरे गाँव की' (1994), उपन्यास में अति सुंदर लडकी सावित्री प्रसाद को भूत–बाधा होती है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में बऊ को ओरछा के जंगल में रक्षा करने कुलदेवता आयेंगे इस पर विश्वास है, तो 'चाक' (1997),उपन्यास के अतरपुर गाँव में मुर्गी-पालन केंद्र चलाने को गाँववाले विरोध करते हैं क्योंकि मुर्गीपालन गाँव के लिए अशुभ माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल में एक ओर विकास का आलोक है, तो दूसरी ओर ग्रामांचलों में अंधविश्वास का अंधकार फैलता हुआ दिखाई देता है।

2.4.1.3 समाज में व्याप्त स्त्री–पुरूषों के अवैध–यौन संबंध :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में स्त्री–पुरूषों के अवैध–यौन–संबंधों का वर्णन है। अपनी शारीरिक क्षुधा का शमन करने की प्रवृत्ति के कारण स्वातंत्र्योत्तर काल से विवेच्य काल तक के ग्रामांचलिक साहित्य में अवैध–यौन संबंध रोमांटिकता की प्रवृत्ति को दर्शाते हैं। वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में कैलाश और चंद्रभान की बेटी, दीपू और सावितरी, अट्‌टूसाव और गोराबाई में अवैध–यौन संबंध है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में प्रेम और रतन यादव, कुसुमा–अमरसिंह तथा मंदा और मकरंद के बीच अवैध–यौन आकर्षण है। अब्दुल बिसिमल्लाह का 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में पं. सृष्टिनारायण पांडे के नचनिया मुन्ना के साथ अप्राकृतिक, समलिंगी अवैध–यौन संबंध है, तो भूरी और बुद्‌धू के बीच अवैध रास लीलाएँ चलती है। अतः स्पष्ट है विवेच्य काल के ग्रामांचलिक साहित्य में अवैध–यौन संबंधों का चित्रण अधिक मात्रा में दिखाई देता है।

2.4.1.4 ग्राम–जीवन से पलायन की प्रवृत्ति :–

विवेच्य काल में औद्‌योगिकीकरण, विस्थापन, बेरोजगारी और ग्राम–जीवन में असुरक्षा के बोध ने ग्राम–जीवन से पलायन की प्रवृत्ति ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। डॉ. क्षितिज धुमाळ के मतानुसार "श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी'

के रंगनाथ ने ग्रामीण जीवन की भयावहता को देखकर पलायन किया था, ऐसे कई रंगनाथ बीसवीं सदी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में भी देखने को मिलते हैं, जो गाँवों की विकृतियों से संत्रस्त होकर गाँवों से पलायन करते हैं।"[31] वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में सांप्रदायिक फसाद के कारण रघुसाव गाँव छोडने के लिए मजबूर होते हैं। जगदंबा प्रसाद के 'माटी मेरे गाँव की' (1994), उपन्यास में ब्राह्मण युवक पवन गाँव की अमानवीयता, पंचायत की असुरक्षितता के कारण गाँव से पलायन करता है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में रतनसिंह यादव से बचाव के लिए बऊ और मंदा का भागना परिवेश सापेक्ष और परिस्थिति की उपज है। अब्दुल बिसिमल्लाह का 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में अल्ली चुडिहार बलापुर ग्राम की अनीति, दहशत से तंग आकर गाँव से पलायन करता है। साथ ही सत्तार पोस्ट मास्टर बलापुर पोस्ट ऑफिस के 52,000 रूपयों के गबन के अरोप के कारण गिरफ्तार होने के डर से गाँव से भाग जाता है। स्पष्ट है कि गाँव से पलायन की प्रवृत्ति विवेच्य काल तक बरकरार रही है।

2.4.1.5 ग्राम–समाज जीवन में मूल्य–विघटन :–

विकास के नामपर अनेक योजनाएँ अपने साथ अनेक विकृतियों को लेकर ग्रामांचलों में दाखिल हुई। गाँवों का औद्योगिकीकरण, शहरीकरण करने के अनेक प्रयत्न होते रहे। 'राम–राज्य' की दुहाई देनेवाले ग्रामांचल विवेच्य काल में 'अर्थ–राज्य' में परिवर्तित होने लगे। ग्रामांचलों में अर्थ-केंद्रित मानवी-संबंधों का निर्माण होना अनेक विकृतियों को जन्म दे रहा है। गाँवों में आया यह परिवर्तन पतनशील है। मूल्यों, आदर्शों का विघटन ग्राम–संस्कृति को आहत कर रहा है। डॉ. विवेकी राय लिखते हैं–"स्वातंत्र्योत्तर विकास क्षितिज के उद्‌घाटन के समानांतर एक और सामाजिक आयाम ग्रामांचल की नई करवट के रूप में उभरा। उसकी सामाजिक एकता और पारस्परिक राह–रस्म, भाईचारा ओर भोजभात खत्म हो गयी।"[32] शहरों की चपेट में आनेवाले गाँवों में दाखिल विकृतियों को विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में हूबहू दर्शाया गया है।

वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में गाँव के लोग मुआवजे के रूप में मिले रूपयों को साईकल, रेडियो जैसी शहरी जरूरतों पर खर्च करते हैं। जगदंबा प्रसाद का 'माटी मेरे गाँव की' (1994), उपन्यास में गाँव की पंचायत पवन को गाँव से

निष्कासित करती है और गाँव के लोग असे जानवरों से बदतर पीटते हैं। रूपसिंह चंदेल के 'पाथरटीला' (1998), उपन्यास में गजेंद्रसिंह अपने मृत चाचा की जमीन हडपने के लिए पतवारी के जेब में नोट ठूँस देता हैं। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में गोविंद सिंह कानूनी कागजों में बदल करके बऊ का अँगुठा लेकर उसकी जमीन स्टोन क्रैशरों के ठेकेदारों को बेच देता है। अब्दुल बिसिमल्लाह के 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में सत्तार पोस्ट मास्टर गाँववालों के पोस्ट ऑफिस में जमा 52,000 रूपयों को गबन करके गाँव से पलायन करता है। अतः स्पष्ट है अनैतिकता, भ्रष्टाचार, गुंडई, षड्यंत्र, हडपनीति मार-काट, गबन आदि के रूप में विकृ तियों का ग्रामांचलों में दाखिल होना ग्राम–मूल्य विघटन का द्योतक है, जिससे ग्राम–जीवन अशांत संत्रस्त बना है।

2.4.1.6 ग्राम–जीवन में परिवार–विघटन :–

ग्रामांचलों में शिक्षा के प्रसार के कारण ग्राम–जीवन में दो पीढ़ियों के बीच वैचारिक संघर्ष का निर्माण हुआ। इस विषय में डॉ. क्षितिज धुमाळ लिखते हैं –"ग्राम–जीवन में परंपरा, रूढ़ि–प्रथा का पक्षधर अज्ञानी, अशिक्षित लोगों का एक वर्ग और रूढ़ि–प्रथा–परंपरा के खिलाफ शिक्षित ग्रामीणों का एक वर्ग देखने को मिलता है।"[33] फलस्वरूप इन दो पीढ़ियों का संघर्ष ग्राम समाज–जीवन में आज दृष्टिगोचर हो रहा है। शिक्षित नई पीढ़ी अपने मर्जी के अनुसार जीवन जीना चाहती है लेकिन पुरानी पीढ़ी रूढी-प्रथा-परंपरा और मर्यादा के युगीन कटघरे में बंद रहकर नई पीढ़ी का विरोध करती है, जिससे परिवार विघटन का दर्द विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में चारों ओर फैला हुआ है।

मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में बुढी विधवा बऊ और असमय विधवा बनी आधुनिक युग की नारी प्रैम के बीच मूल्य विषयक संघर्ष चलता रहता है। मैत्रेयी के ही 'चाक' (1997), उपन्यास में गाँव के बुजुर्ग प्रधान फत्तेसिंह और आधुनिक पीढ़ी के रंजीत में गाँव विकास को लेकर संघर्ष चलता रहता है। श्रीलाल शुक्ल के 'बिश्रामपुर का संत' (1998), उपन्यास में गांधीवादी पिता जयंती प्रसाद और मार्क्सवादी बेटा विवेकी में वैचारिक मतभेद है। अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य ग्राम–जीवन की दो पीढ़ियों के बीच के संघर्ष को वाणी देने का काम करता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों के ग्राम–समाज जीवन में शिक्षा प्रसार के बावजूद जातीय एवं धार्मिक भेद देखने मिलते हैं। अंधविश्वास के कारण ग्राम जीवन रूढीग्रस्तता के दर्शन होते हैं। ग्राम–जीवन के अवैध–यौन संबंध विवेच्य काल के ग्रामांचलिक साहित्य में रोमांटिकता को बढाते हैं। विकास के साथ ग्राम्य–जीवन में अनेक विकृतियों ने प्रवेश करके ग्राम–मूल्यों को ठेस पहुँचाकर सुंदर ग्राम–जीवन को तनावग्रस्त बनाया है। असुरक्षित ग्राम–महौल, बेरोजगारी, विस्थापन, सांप्रदायिक तनाव आदि के कारण शिक्षितों का ग्राम–जीवन से पलायन विवेच्य काल तक बरकरार है। दो पीढ़ियों के वैचारिक वैषम्य के कारण दो पीढ़ियों के बीच की खाईयों पर सामंजस्य के पुल नहीं बन पाए हैं।

2.4.2. 20 वीं सदी के अंतिम दशक ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य में ग्राम–राजनीति :–

विवेच्य काल के 'राजनीति' में कुछ खासा परिवर्तन नहीं आया। ग्राम–राजनीति का नीतिविहीन सफर विवेच्य काल तक बरकरार रहता है। ग्राम–राजनीति की अनीति ने ग्रामांचलों की पुरानी आत्मा को ध्वस्त किया हैं। राजनीतिक दलबंदी के कारण ग्रामों का विभाजन होकर गाँव की एकात्मता में दरारें पड गई हैं। विभिन्न दलीय पार्टियों के कारण गाँवों की राजनीति में खंडितता आ गई हैं। ग्राम–राजनीति में गाँव में स्थित बडे वर्ग का ही वर्चस्व रहा है। सरकारी सेवकगणों की मिलीभगत से जमींदारों ने राजनीति को आमदनी का जरिया बनाया है। इस दशक की राजनीति में मूल्यभ्रष्टता का बाहुल्य रहा है। चुनावी राजनीति ग्रामांचलों को विभिन्न दलीय पार्टियों में विभाजित कर रही है। डॉ. क्षितिज धुमाळ के मतानुसार "चुनावी राजनीति का ग्रामों में प्रवेश होने के उपरांत गाँव –जीवन की एकात्मता ढल गई है। ग्रामीण जीवन की मानसिकता में संघर्ष निर्माण हो रहा है और पूरा गाँव-जीवन बिगडावपूर्ण, बिखरावपूर्ण देखने को मिल रहा हैं।"[34] विवेच्य के ग्रामांचलिक उपन्यासों में राजनीति इस बिगडावपूर्ण रूप को निम्नांकित उपन्यासों में देखा जा सकता हैं।

वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में राजनीति नेताओं को 'वोट-बैंक' बनाने की चिंता होती है। उन्हें ग्राम–विकास से काई सरोकार नहीं। वे गाँव को

विस्थापन की कगार पर खडा करते हैं। जगदंबा प्रसाद का 'माटी मेरे गाँव की' (1994), उपन्यास में महबूबगंज गाँव का जनसंघ, भाजपा, कॉंग्रेस, कम्युनिस्ट, मजदूर पार्टी आदि राजनीतिक दलों में बँटवारा होता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में बहुसंख्यक हिंदुओं के गाँवों में राजनीतिक दाँवपेचों एवं जातीयवादी राजनीतिक षड्यंत्र के कारण गाँव के मुस्लिमों में दहशत का माहौल निर्माण होता है।

अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल की ग्राम–राजनीति के कारण ग्रामांचलों की आत्मा क्षति ग्रस्त हुई है। गाँवों की एकता में दरारें पड गई है जिससे दहशत, असुरक्षा तथा मूल्य भ्रष्टता में बढोतरी हो रही है। राजनीति के कटु फल सामान्य जन–जीवन को मिल रहे हैं। राजनीति की धमनियाँ कई धनिक पूँजीपतियों के हाथ होने के कारण गाँवों में सही रूप में प्रजातंत्रीय वातावरण देखने को नहीं मिलता हैं।

2.4.3. 20 वीं सदी के अंतिम दशक के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में सांप्रदायिकता :–

ग्रामांचलों में सांप्रदायिक उन्माद महानगरों से आयात किया गया है। यह सांप्रदायिकता ग्राम्य–जीवन में नितांत नवीन है। राजनीतिक दाँवपेचों के कारण ग्रामांचलों के सांप्रदायिक सद्भाव में बाधा निर्माण हुई है। बरसों से भाईचारे से रह रहे हिंदू–मुस्लिमों के बीच वैमनस्य का वातावरण निर्माण हो गया है। सांप्रदायिक त्रासदी से ग्रामांचलों में आतंक और संदेह का वातावरण पनप रहा है। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में अनेक जगहों पर सांप्रदायिक फसादों का चित्रण मिलता है। आज सांप्रदायिकता की जडें ग्राम–जीवन में धँसती जा रही है। विभाजन के कारण संदेहपूर्ण माहौल, मंदिर–मस्जिद का बखेडा, जातिभेद, अंतरधर्मीय विवाह के कारण सांप्रदायिकता का विषाक्त माहौल निर्माण हो रहा है।

वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में विभाजन के पश्चात भडकें सांप्रदायिक दंगों की हवा लड़ैई गाँव तक फैलती है, जिसमें गाँव के मुस्लिम लोग रघुसाव के घर को जलाते हैं, उनकी बहुओं को मारते हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में धर्माभिमानी पं. रामवृक्ष पांडे बेटी की शादी में अल्ली चुड़िहार के न आने से उसे पीटते हैं। साथ ही जबलपुर में हिंदू–मुस्लिम प्रेमियों के बीच संपन्न हुए विवाह से सांप्रदायिक दंगें भडकते हैं। स्कूल के बच्चों में भी

सांप्रदायिकता का वातावरण निर्माण होता हैं। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में 'मंडल आयोग' और 'भाजपा की रथयात्रा' की अफवाहों से श्यामली गाँव का सांप्रदायिक माहौल उग्र बनता है। रूपसिंह चंदेल के 'पाथरटीला'(1998), उपन्यास में हरिहर गजेंद्रसिंह मंदिर–मस्जिद मामले द्वारा ग्रामांचल का माहौल तनावग्रस्त बनाता हैं।

अतः स्पष्ट है कि शहरों की सांप्रदायिक मानसिकता आज गाँवों में आ पहुँची है, जिससे सामाजिक सुरक्षा का मोहभंग हुआ है। यह सांप्रदायिक तनाव ग्रामांचल में नितांत नवीन एवं नगरों–महानगरों से आयात है, जिसने ग्रामांचलों के शांतिमय जीवन को संत्रस्त बना दिया है। सांप्रदायिकता में बँटे गाँवों में आज असुरक्षा का माहौल भी पनपता जा रहा है।

2.4.4. 20 वीं सदी के अंतिम दशक के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में विस्थापन :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों के ग्राम–जीवन में विकास के नाम पर विस्थापन की त्रासदी को दर्शाया गया है। बाँध परियोजना, बिजली का प्रबंधन, सडकों का निर्माण, सिंचाई आदि के कारण ग्रामांचल विस्थापन की कगार से गुजर रहे हैं। विकास के नाम पर विनाश का महापर्व विस्थापन के रूप में ग्राम–जीवन में नई समस्याएँ लेकर आ रहा हैं। चंद शहरों के औद्योगिक विकास हेतु अनेक गाँवों को बलि का बकरा बनाया जा रहा है। शहरों की चकाचौंध के लिए ग्राम–जीवन में अनिश्चित काल के लिए अंधकार फैलाने का षड्यंत्र विस्थापन के जरिये चलाया जा रहा है। भोले–भाले निरीह गाँववालों को उनकी पुश्तैनी जमीनों,घरों और खेत–खलिहानों से उखाड कर फेंका जा रहा है। विवेच्य काल में अकाल, बिजली, सिंचाई, बाँध परियोजना आदि के कारण निर्मित विस्थापन की समस्या का यथार्थवादी चित्रण निम्नांकित उपन्यासों में मिलता है –

वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में राजघाट परियोजना के तहत बाँध बनाएँ जाने के कारण ग्रामांचलों के भोले–भाले लोगों को बरसों से बसी जिंदगी से उखाडने का प्रयत्न किया जा रहा हैं। स्कूल का विस्थापन हो जाता है। किसानों की आपत्तिभरी स्थिति का फायदा उठाकर उन्हें विस्थापन की कगार पर खडा किया जा रहा है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में पारीछा में थर्मल प्लांट योजना

के कारण बेतवा के किनारे बसे गाँवों को विस्थापन की त्रासदी से गुजरना पडता है। विकास के नामपर विनाश का महापर्व ग्रामांचलों को आहत कर रहा है। अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'मुखडा क्या देखे' (1996), उपन्यास में अकाल के कारण गाँव के लोग जिंदगी के तलाश में विस्थापित हो रहे हैं। श्रीलाल शुक्ल के 'बिश्रामपुर का संत' (1994), उपन्यास में विकास के नामपर किसानों की जमीनों को जबरदस्ती हडप किया जाता हैं। इस उपन्यास का रामलोटन विस्थापित होता हुआ कहता है –"कागज पर मेरा अँगूठा लिया, मेरा खेत भी ले लिया, रेहन का रूपया भी मुझे नहीं मिला हैं।"[35] अतः स्पष्ट है विस्थापन ग्रामांचलों में एक नया संकट है, जिसमें ग्राम–जीवन को जबरदस्ती उनके पुश्तैनी जमीन–जायदात, खेत-खलिहानों से उखाड़ा जा रहा हैं। विकास के नाम पर यह विस्थापन गाँव जीवन की मानसिकता को बिगाड रहा है। इसका पता यहाँ चलता है।

2.4.5. 20 वीं सदी के अंतिम दशक के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में शोषण के विविध आयाम :–

स्वतंत्रतापूर्व काल से विवेच्य काल के ग्रामीण उपन्यासों में शोषण की शृंखला निरंतर रूप में चलती आ रही है। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास साहित्य में शोषण के विविध नये–नये आयाम दृष्टिगोचर होते हैं। विवेच्य काल में नारी शोषण, किसानों मजदूरों का शोषण तथा दलितों के अमानवीय शोषण का यथार्थ चित्रण हुआ है। ग्रामांचलों की पूँजीवादी मानसिकता शोषण का प्रमुख कारण बनी है। विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यास–साहित्य में शोषण के विविध आयामों को कैसे चित्रित किया है, इसे देखेंगे–

वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में विस्थापित किसानों की विपत्ति का लाभ उठाकर साहूकार उनके खेत–खलिहान हडप लेते हैं। उसके साथ घूमा चमार और उसकी बिरादरी को जानवरों से बदतर पीटा जाता है ताकि वे पूँजीवादियों के खिलाफ आवाज न उठा सके। जगदंबा प्रसाद के 'माटी मेरे गाँव की' (1994), उपन्यास में गाँव के उच्च्च वर्ग के लोग दलित नारियों का शोषण करते हैं। ब्राह्मण पवन हरिजन भूमिहीन किसान चैतु की बेटी मैना की इज्जत लूटता है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में वैधव्य-जीवन से पीड़ित नारियों का गाँव के गुंडों द्वारा शोषण किया जाता है। प्रेम और बऊ दोनों गुंडों द्वारा किए गए अत्याचार से

पीड़ित है। विद्यासागर नौटियाल के 'सूरज सबका है' (1997), उपन्यास में दासप्रथा का प्रचलन दिखाया है। नेपाली सरकार का राजकीय कर न देने के कारण पुलमा के पति को बेचा जाता है। मैत्रेयी के 'चाक' (1997), उपन्यास में जमींदार किसानों का अमानवीय शोषण करते हैं। श्रीलाल शुक्ल के 'बिश्रामपुर का संत' (1998), उपन्यास में को-ऑपरेटिव के नाम पर पूर्व जमींदार दुबे महाराज गरीब किसान रामलोटन की जमीन हडपते हैं।

अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल तक ग्राम शोषण निरंतर जारी है। नारी, किसान–मजदूर तथा दलित वर्ग शोषण का बोझ इस दशक में भी ढोते हैं। दास प्रथा तथा को-ऑपरेटिव कृषि व्यवस्था के रूप में किया गया किसानों का शोषण विवेच्य काल के शोषण के नये आयाम लक्षित होते हैं।

2.4.6. 20 वीं सदी के अंतिम दशक के ग्रामांचलिक उपन्यास-साहित्य में आंदोलन की उद्भावना :–

विवेच्य काल के ग्रामांचलिक उपन्यासों में आंदोलन का स्वर प्रशंसनीय एवं जन–जागृति का द्योतक है। किसान–मजदूर एक ओर पूँजीवादी शोषण से ग्रस्त है तो दूसरी ओर ईंट का जवाब पत्थर से देने में भी सिद्ध हस्त हैं। विवेच्य काल के ग्राम–उपन्यास साहित्य में किसान–मजदूरों के आंदोलन को अनेक जगहों पर दिखाया है।

वीरेंद्र जैन के 'डूब' (1991), उपन्यास में गाँव के भूमिहीन मजदूर, दलित वर्ग बेगारी पर काम करना बंद करते हैं। घूमा चमार से नाई तक अपने काम बंद कर देते हैं, जिससे जमींदारों के सामने संकट निर्माण होता हैं। लोग तेंदू पत्तों को इकट्ठा करने का काम करके जमींदारों को दिखा देते हैं कि उनकी मजदूरी के बिना भी वे खुशहाल जीवन जी सकते हैं। मैत्रेयी के 'इदन्नमम' (1994), उपन्यास में विस्थापन के खिलाफ आंदोलन हैं। मंदा के नेतृत्त्व में क्रैशर पर काम करनेवाले मजदूर आंदोलन करके ठेकेदारों के शोषण का प्रत्युत्तर देते हैं। श्रीलाल शुक्ल के 'बिश्रामपुर का संत' (1998), उपन्यास में भू-दान यज्ञ द्वारा किसान जमींदारों के खिलाफ आंदोलन छेड देते हैं।

अतः स्पष्ट है कि विवेच्य काल के ग्राम–उपन्यास साहित्य में शोषण के खिलाफ जागी चेतना किसान–मजदूरों को अपने अधिकारों से परिचिति कराती हैं।

किसान-मजदूर आंदोलन से विवेच्य काल का ग्राम–उपन्यास साहित्य सजीव एवं सचेतन हो उठता है।

* निष्कर्ष :–

20 वीं सदी के अंतिम दशक के ग्रामांचलिक साहित्य की विकास-यात्रा के विवेचन से ज्ञात होता है कि गाँव 'ग्लोबल विलेज' की संज्ञा में पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गए हैं। शिक्षा प्रसार के बावजूद जातीय एवं धार्मिक भेदाभेद, अंधविश्वास की रूढीग्रस्त-रूग्ण मानसिकता खोखले विकास का भंडाफोड करती है। विकास के नाम पर विकृतियों का ग्रामांचलों में दाखिल होना ग्राम मूल्यों के विघटन का दर्द निर्माण कर रही है। पारिवारिक टूटन, सांप्रदायिकता, विस्थापन जैसी नई समस्याओं ने ग्रामांचलों को उद्वेलित करके ग्राम-संस्कृति के सामने संकट पैदा किए हैं। राजनीति का नीतिहीन एवं मूल्यहीन होना ग्रामांचलिक उपन्यासों में शोध का विषय बन रहा है। दासप्रथा तथा को–ऑपरेटिव के माध्यम से किसानों को फँसाना आदि विवेच्य काल में शोषण के नये आयाम हैं। लेकिन इन सबके बावजूद ग्राम–अस्मिता, ग्राम-संस्कृति के रक्षा में चेतना का आंदोलनकारी स्वर विवेच्य काल के साहित्य को नये आयाम प्रदान करता हैं।

*समन्वित निष्कर्ष :–

भारत देहातों का देश हैं। भारत की आत्मा देहातों में बसती है। महात्मा गांधी के 'देहातों की ओर चलो' के नारे और 'सर्वोदय अंदोलन' ने साहित्य को भी प्रभावित किया और आँचलिक उपन्यास हिंदी साहित्य में आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित हुए। स्वतंत्रतापूर्व काल में प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन, वृंदावनलाल वर्मा, आ. चतुरसेन शास्त्री आदि उपन्यासकारों का साहित्य आँचलिकता की पृष्ठभूमि निर्माण करता गया लेकिन इसका यथार्थवादी रूप स्वातंत्र्योत्तर युग की देन है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' से इसका सही प्रचलन हुआ तथा 20 वीं सदीं के अंतिम दशक तक इसका सफर कांचनमयी रहा।

इसमें हमने स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जन–जीवन के विकास के पडाव दिखाकर हर पडाव पर ग्रामीण जीवन की स्थिति को चित्रांकित करने का प्रयत्न किया है। आजादी के बाद और खासतर सन् 1952 के आसपास पंचवर्षीय विकास योजना का

निर्माण सरकार द्वारा कराया गया। इन विकास योजनाओं को गाँवों तक पहुँचाना, दूरदराज के गाँवों तक विकास योजनाओं का महत्त्व विशद करना, विकास से उत्पन्न हानि को लोगों को जानकार कराना, सडकों का निर्माण करके गाँवों को शहरों के साथ जोडना, गाँव के चिकित्सालय, स्कूल, डाक आदि की सुविधाएँ निर्माण करना, कृ षि विकास के लिए सिंचाई, खाद की व्यवस्था कराना, सहकार के माध्यम से लोगों का आर्थिक स्तर ऊँचा बनाना, शहरों के कल–कारखानें गाँव तक पहुँचाना, शिक्षित युवकों को रोजगार उपलब्ध करा देना, रोटी, कपडा, मकान इन तीन आवश्यक बातों की लोगों के लिए परिपूर्ति कराना, इन सभी बातों की परिपूर्ति से ग्रामीण लोगों का जीवन स्तर आज सुधरा हुआ लगता है। इन सुधारों के केंद्र में अनेक विकृतियों ने भी जन्म लिया है। इन सभी बातों को दिखाकर आजादी के बाद से आज तक ग्रामीण जीवन की स्थिति और गति से इन लेखकों ने पाठकों को अवगत कराने का प्रशंसनीय काम किया।

सन् 1975 तक ग्रामांचलिक उपन्यास धारा तेज रही किंतु सन् 1975 के बाद ग्रामांचलिक उपन्यासों ने परिवर्तित ग्रामीण-जीवन का चित्रण करना शुरू किया, जिससे परंपरागत ग्रामीण जीवन की धारा में ठहराव की गति आयी। आज कालानुरूप युगसत्य को अपने साथ लेकर परिवर्तित होनेवाले गाँव-जीवन का चित्रण करने का प्रयत्न उपन्यासकार कर रहे हैं।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

1. सम्पा, श्यामसुंदर दास, 'हिंदी शब्द-सागर' (प्रथम भाग), पृ.क्र.12–13
2. सुभाषिनी वर्मा, 'स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यास', पृ.क्र.144
3. डॉ. यादवराव धुमाळ,'साठोत्तरी हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन', पृ.क्र.147
4. वही, पृ.क्र. 149
5. अरविंद जैन, 'औरत होने की सजा', पृ.क्र 20
6. डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर, 'हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.क्र 140
7. डॉ. सुरेंद्र कुमार यादव, 'नागार्जुन का उपन्यास–साहित्य समसामायिक

संदर्भ' पृ.क्र 89

8. डॉ. विमलशंकर नागर, 'हिंदी के आँचलिक उपन्यास : सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ' पृ.क्र 15
9. नागार्जुन, 'दु:खमोचन' पृ.क्र 23–24
10. नागार्जुन, 'कुम्भीपाक' पृ.क्र 76
11. भैरवप्रसाद गुप्त, 'सती मैया का चौरा' पृ.क्र 672
12. फणीश्वरनाथ 'रेणु', 'मैला आँचल' पृ.क्र 82
13. डॉ. विमलशंकर नागर, 'हिंदी के आँचलिक उपन्यास : सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ', भूमिका से उद्धृत
14. डॉ. रामदरश मिश्र, 'पानी के प्राचीर' पृ.क्र 67
15. डॉ. विमल शंकर नागर, 'हिंदी के आँचलिक उपन्यास : सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ', पृ.क्र 55
16. राजकुमारी सिंह, 'हिंदी और अँग्रेजी आँचलिक उपन्यास का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, पृ.क्र 78
17. राही मासूम रजा, 'आधा गाँव' पृ.क्र 354
18. डॉ. रामदरश मिश्र, 'जल टूटता हुआ', पृ.क्र 214
19. सच्चिदानंद धुमकेतू, 'माटी की महक', पृ.क्र 125
20. डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, 'हिंदी उपन्यासः उपलब्धियाँ', पृ.क्र 65
21. डॉ. विमलशंकर नागर, 'हिंदी के आँचलिक उपन्यास : सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ', पृ.क्र 102
22. डॉ. यादवराव धुमाळ,'साठोत्तरी हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन', पृ.क्र 205
23. विवेकी राय, 'सोनामाटी', पृ.क्र 112
24. डॉ. यादवराव धुमाळ,'साठोत्तरी हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन', पृ.क्र 205
25. डॉ. क्षितिज धुमाळ, '20 वीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक अनुशीलन, पृ.क्र 156
26. सम्पा. वेदप्रकाश अमिताभ, 'सर्जनात्मकता में गाँव', पृ.क्र 119
27. कृष्णकुमार बिस्सा,'साठोत्तरी हिंदी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना, पृ.क्र 84

28. सम्पा. डॉ. रामदरश मिश्र, 'हिंदी उपन्यास के सौ वर्ष',पृ.क्र 391

29. डॉ. यादवराव धुमाळ,'साठोत्तरी हिंदी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन', पृ.क्र 311–12

30. डॉ. क्षितिज धुमाळ, '20 वीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक अनुशीलन' पृ.क्र 208

31. डॉ. विवेकी राय, 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा–साहित्य और ग्राम जीवन', पृ.क्र.111

32. डॉ. क्षितिज धुमाळ, '20 वीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक अनुशीलन', पृ.क्र 220

33. वही, पृ.क्र 201

34. श्रीलाल शुक्ल, बिश्रामपुर का संत, पृ.क्र 124

❋ ❋ ❋